कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

देवपुरस्कार ग्रंथावली—२

आधुनिक कवि

रामकुमार वर्मा

२००३

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक का वक्तव्य

बुंदेलखंड में ओरछा राज्य प्राचीन काल से हिन्दी साहित्य और कवियों का सम्मान करता आया है। इस क्रम को वर्तमान नरेश सवाई महेन्द्र सर वीरसिंह जी देव ने अक्षुण्ण रक्खा है और संवत् १९९० वि० से प्रतिवर्ष किसी हिन्दी कवि के सम्मानार्थ २०००) का पुरस्कार देते आ रहे हैं। संवत् १९९४ में प्रतियोगिता के लिए आये हुए ग्रन्थों में से कोई रचना पुरस्कार योग्य नहीं समझी गई और इस कारण पुरस्कार प्रबन्धकर्त्री समिति श्री वीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद् ने इस निधि में से १०००) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग को 'देव पुरस्कार ग्रंथावली' के नाम से एक पुस्तक-माला प्रकाशित करने के लिए प्रदान किया। इस दान के लिये सम्मेलन श्रीमान् ओरछा-नरेश तथा पुरस्कार प्रबन्धकर्त्री समिति का कृतज्ञ है।

सम्मेलन की साहित्य समिति ने यह निश्चय किया है कि इस ग्रंथावली में आधुनिक काल के प्रतिनिधि कवियों के काव्य-संग्रह प्रकाशित किए जायँ। इस माला की विशेषता यह होगी कि प्रत्येक कवि स्वयं अपनी कविताओं का चयन करेगा और स्वयं ही अपनी कविता का दृष्टिकोण पाठकों के सामने उपस्थित करेगा। प्रत्येक संग्रह के साथ कवि की हस्तलिपि का नमूना और उसकी प्रतिकृति का पेंसिल-स्केच भी रहेगा। इस प्रकार, आशा है, यह संग्रह अद्वितीय सिद्ध होगा और समस्त हिन्दी-प्रेमी जनता को राष्ट्रभाषा की नवीन काव्य-रचना की प्रगति को समझने और अध्ययन करने में सुविधा प्राप्त होगी।

प्रस्तुत संग्रह इस माला का तृतीय पुष्प है। श्री रामकुमार जी वर्मा का हिन्दी के आधुनिक कवियों में श्रेष्ठ स्थान है। रहस्यवाद के गिने-चुने कवियों में उनकी गिनती है। ओरछा-नरेश द्वारा प्रदत्त २०००) का 'देव पुरस्कार' भी उन्हें प्राप्त हो चुका है। हमें विश्वास है कि पाठकों को इस संग्रह द्वारा कवि के काव्य का व्यक्तित्व और मर्म समझने में विशेष सहायता मिलेगी।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

विनीत
साहित्य-मंत्री

प्रिय, तुम भूले मैं क्या गाऊँ ?
जिस ध्वनि में तुम बसे उसे,
जग के कण कण में क्या बिखराऊँ ?
शब्दों के अधखुले द्वार से,
अभिलाषाएँ निकल न पातीं !
उच्छ्वासों के लघु लघु पथ पर,
इच्छाएं चल कर थक जातीं !
हाय, स्वप्न-संकेतों से मैं,
कैसे तुमको पास बुलाऊँ ? प्रिय०
जुही-सुरभि की एक लहर से,
निशा बह गई डूबे तारे,
अश्रु-बिन्दु में डूब डूब कर,
दृग-तारे ये कभी न हारे !
दुख की इस जागृति में कैसे,
तुम्हें जगा कर मैं सुख पाऊँ ?
प्रिय, तुम भूले मैं क्या गाऊँ ?

१० मई १९३९ — रामकुमार वर्मा

मेरा दृष्टिकोण

मैं अपनी कविताओं का संकलन आपके सामने रख रहा हूँ। इन कविताओं में मेरे जीवन की अभिव्यक्ति है और समय समय पर ये कविताएँ लिख कर मैंने संतोष की साँस ली है। अपने नवयुवक जीवन से लेकर आज तक मैंने जो कविताएँ लिखी हैं वे उन क्षणों की रेखाएँ हैं जिनमें मैंने जीवन की गति अनुभव की है—ऐसे जीवन की जो अत्यन्त पवित्र क्षण से उत्पन्न हुआ है। मैंने कविता को एक अत्यन्त पवित्र अनुभूति के रूप में समझा है। इसीलिए मैंने किसी हलके क्षण में कविता नहीं लिखी। अपने काव्य-जीवन के प्रभात में तो मैं स्नान कर कविता लिखने बैठता था, आज जब मैं कविता लिखने बैठता हूँ तो जैसे पूजा की पवित्रता मेरी लेखनी की नोंक पर आ बैठती है। संभवतः यही कारण है कि मैं भौतिक शृंगार की कोई कविता नहीं लिख सका या जीवन की उन बातों पर प्रकाश नहीं डाल सका जो पार्थिव जीवन के क्रोड़ में अपनी दैनिक गति से घटित होती रहती हैं।

उल्लास की प्रथम कविता उस समय लिखी गई होगी जब किसी सुकुमार शिशु को सुलाने के लिए ममतामयी जननी ने वात्सल्य से आर्द्र स्वर छेड़ा होगा और प्रथम छन्द की गति पालने के झूलने में उत्पन्न हुई होगी। करुणा की प्रथम कविता उस समय बनी होगी जब बादल में अपनी प्रियतमा की मूर्ति देख कर किसी प्रेमी ने उसे पकड़ने की चेष्टा की होगी और बादल दूसरे ही क्षण अन्तरिक्ष के किसी कोने में दुबक गया होगा। कविता मानव-जीवन के अन्तराल से उसी प्रकार निकली होगी जैसे लज्जा से अरुणिमा। जीवन से अलग हटी हुई कविता साहित्य की सबसे बड़ी निर्लज्जता है। जीवन के रङ्गीन और वास्तविक स्वप्नों के निर्माण में कविता की प्रेरणा है और जब इन सजीव स्वप्नों से रहित होकर कविता

अपना प्रदर्शन करती है तब वह ऐसी अप्सरा हो जाती है जिसके पास केवल रूप ही रूप है, हृदय का उष्ण स्पन्दन नहीं। उसने अपने अस्तित्व को केवल रूप में ही लीन कर दिया है। प्रभातकाल की भाँति उसके पास केवल कंठ का कलरव है जो दो घंटों में समाप्त हो जाता है। रेशम के कीड़े की भाँति उसने अपने ऊपर कोमलता का ताना बाना गूँथ रक्खा है। वह उसे काट कर नहीं निकल सकती, वह उस कीड़े से भी हीन है। साहित्य के शव पर बैठ कर कला का यह कापालिकत्व किसी कपाल कुण्डला को वश में नहीं रख सकता।

मनुष्य के हृदय का साम्राज्य कितना व्यापक है! संसार में फैले हुए किसी भी राष्ट्र से अधिक इसकी परिधि है। किन्तु इस साम्राज्य की सीमा छूने का प्रयत्न भी हमारे विज्ञान का भौतिकवाद नहीं करना चाहता। वह अपने जड़वाद में पूर्ण रूप से सन्तुष्ट है। यों उसने हमें जीवन की अनेक सुविधाएँ दी हैं किन्तु क्या उससे हमारी आत्मा में जाग्रति आ सकी है? इन्द्रियों के विषय उसके द्वारा हमें सहज ही प्राप्त हो गए हैं किन्तु क्या वासनाओं की पूर्ति ही जीवन का चरम उद्देश्य है? हमारी इच्छाओं की अंगूरी बेल को ऊपर चढ़ने का सहारा उसके द्वारा अवश्य मिला है किन्तु इससे हमें मादकता के अतिरिक्त और क्या मिला? हमने इसकी शक्ति से सांसारिक आनन्द के निर्जीव शव को गोद में उठा लिया है, उसके प्राण की उपेक्षा की है। मिट्टी के ढेले पर ही हम रीझ गए हैं, उसके अन्तर्गत रङ्गीन फूल के बीज पर नहीं। स्पर्श का चरमोत्कर्ष हमारे लिए प्रेम का प्रमाण-पत्र बन गया है। हम अपने स्वार्थ की रोटी खाकर बीमार होने की सीमा तक पहुँच गए हैं और अपनी ओषधि में भी वही रोटी चाहते हैं। यह विज्ञान हमारे समस्त सुखों का कोषाध्यक्ष होना चाहता है; जीवन की इकाई में आडंबरों के शून्य जोड़ कर वह सहस्रों का गुमान करना चाहता है। वह इतना दुष्ट है कि संसार को बिगाड़ने के लिए ही बार बार बनाता है। उसकी अग्नि से विनाश की अग्नि जल सकती है किन्तु वह आश्चर्य का प्रकाश बन कर हमें आकर्षक किरणों से लुभाता है। अपने

रेखाचित्रों में उसने ब्रह्म के लिए कोई चिह्न भी नहीं बनाया। केवल लम्बाई चौड़ाई और मोटाई में वह आत्मा को नापना चाहता है। वह ऐसी स्याही का धब्बा है जिसके नीचे आत्मा की रेखा छिप गई है।

आवश्यकता इस बात की है कि हमारा बुद्धिवाद सृष्टि के कण कण में व्याप्त स्नेह और पारस्परिक हित की भावना खोजे। वह अपनी हँसी के हाथों से जीवन का द्वार खोलना सीखे। लेकिन वस्तु स्थिति यह है कि मनुष्य मनुष्यत्व को भूल कर देवता होने की चेष्टा में राक्षस बनने जा रहा है। कुर्सी पर बैठ कर वह चपरासी को भूल गया है, मोटर पर चढ़ कर उसे राहगीरों से घृणा हो गई है, थियेटरों में जाकर वह अन्धे गायक को भूल गया है। वह हँसता है लेकिन अपनी हँसी को नहीं समझ सकता। उसने अपनी हँसी में यह भी नहीं खोजा कि यह किसने गुदगुदाया है! आज का मनुष्य बुद्धिवाद की कसौटी पर स्नेह के फूल को कस कर परखना चाहता है। वह अपनी इन्द्रियों से आत्मा में चेतनता लाना चाहता है। किसी ने राख से भी कभी दीपक जलाया है?

अरब में एक जादूगर था। वह अफ़रीका के जलते हुए मरुस्थल की ज़मीन से कान लगा कर बग़दाद के फ़र्श पर चलने वाले प्रत्येक बच्चे के पैरों की ध्वनि पहिचान जाता था और शैतान लड़कों के नाम गिनता जाता था। वह कहता था उसमें यह ईश्वर-प्रदत्त शक्ति थी। कवियों में भी यही शक्ति है। यदि वे भौतिकवाद की जलती हुई ज़मीन पर कान लगा कर हृदय की सरल और सूक्ष्म ध्वनियाँ सुनना चाहें, तो सुन सकते हैं। उन्हें जीवन की क्रूर प्रवृत्तियों से मनुष्यत्व का सन्देश निकाल कर घोषित करना है। उनके ऊपर एक उत्तरदायित्व है और इस बुद्धिवाद के युग में तो यह उत्तरदायित्व और भी बढ़ गया है।

आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही 'कविता' है। जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है। उस समय क्षण क्षण में 'मैं' और 'सब' में विपर्यय

होता है। "मैं" चिरन्तन भावनाओं में 'सब' का रूप धारण करता है और भावना के किसी विशेष दृष्टि-विन्दु में 'सब' 'मैं' में आकर संकुचित हो जाता है। तब व्यक्तिगत भावनाएँ विश्व की समस्त गति में अबाध रूप से बहती हैं और समस्त सृष्टि का संगीत एक कण के कंपन में स्पन्दित होने लगता है। जिस दैवी क्षण में कवि अपने को इस असीम प्रकृति में विलीन कर देता है उस समय सृष्टि के समस्त रहस्य उसकी वाणी में फूट निकलते हैं। वह अपनी भावनाओं के भीतर किसी प्रजापति को देखता है जो क्षण क्षण में संसार का निर्माण और विनाश करता है। रूप और ध्वनियाँ साकार और निराकार होती हैं, दृश्य और अदृश्य उसे अपने संगीत से ओतप्रोत कर देते हैं। समस्त जगत हृदय में गतिशीलता भर कर तिरोहित हो जाता है, उसी गतिशीलता का नाम 'कविता' है।

यह गतिशीलता ध्वनि और छन्द में प्रकट होती है। प्रकृति के समस्त रहस्यों को अपनी पदावली में केन्द्रीभूत कर कवि स्वयं स्रष्टा के रूप में हो जाता है। वह संसार को उसके वास्तविक स्वरूप का सन्देश देता है। संसार को आश्चर्य होता है अपने ही उस महान् सौन्दर्य पर जो उसमें इतने काल से छिपा हुआ था। अतः इस छिपे हुए सौन्दर्य को कविता में स्पष्ट कर देना ही कवि का महान् धर्म है। कवि साधारण मनुष्य से भिन्न होता है। वह जानता है कि किस प्रकार वह अपने को प्रकृति की गतिशीलता में लीन कर दे और उसके सहारे वह उसके कोने कोने से परिचित होकर उन तथ्यों को प्रकाशित करे जिनसे जीवन बना हुआ है— जिनसे सौन्दर्य में आनन्द की सृष्टि हुई है। सौन्दर्य में इस आनन्द का प्रादुर्भाव करना ही कविता का चरम आदर्श है।

आनन्द का प्रादुर्भाव करने के लिए कवि किस प्रकार सौन्दर्य में प्रवेश करता है? कवि की अनुभूति भावना के किसी केन्द्र-विन्दु पर जाकर तीक्ष्ण बन जाती है जिससे वह रहस्य के भीतर धँस सके। जब तक कवि अपनी भावना में केन्द्र-विन्दु स्थापित नहीं करेगा, वह किसी सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं कर सकता। एक कील को ही लीजिए। वह अपनी समस्त

शक्ति अपनी नोंक में इस प्रकार एकत्रित कर लेती है कि थोड़ी सी ही गति पाने पर वह किसी पदार्थ में धँस जाती है। दूसरी ओर लोहे की मोटी छड़ अपनी शक्ति को किसी केन्द्र-विन्दु पर न रख सकने के कारण ही मोटी और ठंठ पड़ी रहती है। वह ठोकने पर भी किसी चीज़ में प्रवेश नहीं पा सकती। कवि अपनी भावनाओं का केन्द्र-विन्दु अत्यन्त सूक्ष्म वना लेता है और सरलता से प्रकृति के सौन्दर्य में प्रवेश पार लेता है। वहाँ जाकर वह प्रकृति की सौन्दर्यशाला से वे रत्न उठा लाता है जो संसार के ऊपरी धरातल पर चलने वालों को स्वप्न में भी प्राप्त नहीं हो सकते।

जब हम अपने दैनिक जीवन के सुख दुख को इस सौन्दर्य में तिरोहित कर लेते हैं तो हमें उस आनन्द के दर्शन होते हैं जिसमें कली फूल में परिणत होती है और फूल अपना विकास फल में करता है। हम उस विश्व-आनन्द के समीप पहुँच जाते हैं जिसमें काले बादल से विद्युत् चमक उठती है और जल नदियों के सहारे महासागर में पहुँच कर अपनी सीमा से मुक्ति पा जाता है। साधारण मनुष्य अपनी दिशा भूल कर—पथ-भ्रष्ट होकर अपने ही मनोविज्ञान में दुःख की सृष्टि करता है। यदि वह एक क्षण भर के लिए मौन हो जाय और अपनी अन्तरात्मा की पुकार सुन सके तो उसे ज्ञात होगा कि उसका सुख उसके कार्य-कलाप में नहीं है, उसका सुख है अपने 'अहं' को भूल जाने में—अपने को असीम बनाने में। इसीलिए तो बौद्धमत में 'शून्यवाद' का महत्त्व है। धर्मकाय की अनुभूति में मनुष्य की चेतना इस प्रकार अवस्थाहीन हो जाय कि उसका किसी से और किसी का उससे कोई स्पर्श न रह जाय। वह एक मात्र 'शून्य' हो सर्वत्र संचरित हो सके। इस 'शून्यवाद' में ही वास्तविक आनन्द है, उसी में क्लेश से मुक्ति है। फिर जिस प्रकार तलवार के प्रहार से जल नहीं कट सकता उसी प्रकार संसार की कोई भी विषम परिस्थिति उसके आनन्द के प्रवाह को नहीं काट सकती। परिस्थिति यह है कि अपनी ही सीमा में घिरा हुआ व्यक्ति अपने ही 'अहं' की प्रतिध्वनि पाकर भयभीत हो उठता है और वह दुःख का अनुभव करने लगता है। यदि वह अपनी

परिधि तोड़ कर शून्य हो जाय—मुक्त आकाश हो जाय—तो उसकी ध्वनि निकल कर असीम में गतिशील हो जाय और वह समष्टि में ही निर्विकार होकर संचरण करने लगे। यही भावना रहस्यवाद का प्रवेश-द्वार है।

रहस्यवाद आत्मा में विश्वात्मा की अनुभूति है। उसमें विश्वात्मा का मौन आस्वादन है। प्रेम के आधार पर वह आत्मा और विश्वात्मा में ऐक्य स्थापित करता है। मैं 'ऐक्य' ही कहता हूँ 'एकीकरण' नहीं। एकीकरण की भावना अद्वैतवाद में है और ऐक्य की भावना रहस्यवाद में। अद्वैतवाद और रहस्यवाद में कुछ भिन्नता है। अद्वैतवाद में मिलाप की भावना का ज्ञान भी नहीं रहता, रहस्यवाद में यह मिलाप एक उल्लास की तरंग बन कर आत्मा में जाग्रत रहता है। जब एक जल-बिन्दु अनन्त जलराशि में मिल कर अपना व्यक्तित्व खो देता है तब उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान भी नहीं रहता। वह भावना अद्वैतवाद की है। लेकिन रहस्यवाद में अस्तित्व का पूर्ण विनाश नहीं होने पाता। मिलाप की भावना रहते हुए भी व्यक्तित्व की यह सूक्ष्म जाग्रति रहती है कि "मैं मिल रहा हूँ।" आत्मा विश्वात्मा से मिल कर भी यह कह सकती है कि "मैं अपने लाल की लाली जहाँ देखती हूँ वहीं पाती हूँ। जब मैं उस लाली को निकट से देखने जाती हूँ तो मैं भी लाल हो जाती हूँ।" यहाँ मैं और लाल में एकता होते हुए भी दोनों का अस्तित्व-ज्ञान अलग अलग है। व्यक्तित्व का अभिज्ञान रहते हुए इस मिलाप की आनन्दानुभूति ही रहस्यवाद की अभिव्यक्ति है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'दो पक्षियों' का रूपक देकर आत्मा और ब्रह्म की अलग सत्ता निरूपित की गई है।[1]

जलालुद्दीन रूमी ने भी आग और तपे हुए लोहे के लाल गोले के रूपक से रहस्यवाद की भावना स्पष्ट की है। जब लोहे का गोला आग से

---

[1] द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ ६ ॥
(श्वेताश्वतर उपनिषद् ४–६–७)

लाल हो जाता है तब उसमें भी आग का गुण आ जाता है, वह किसी को भी जला सकता है किन्तु आग से लाल हो जाने पर भी वह लोहे का गोला तो रहता ही है। उसे हम आग भी कह सकते हैं और नहीं भी कह सकते क्योंकि अन्ततः वह आग के अतिरिक्त लोहे का गोला भी है। अतः वह आग है भी और नहीं भी है। इसी प्रकार आत्मा ब्रह्म के गुणों से ओतप्रोत हो जाने पर ब्रह्म है भी और नहीं भी है। इसमें 'व्यक्ति' का विनाश न होकर उसका विकास है। गुण का लोप न होकर ऐक्य है।

इस प्रकार रहस्यवाद में जीवात्मा की स्थिति एक विरोधात्मक भावना उत्पन्न करती है। जब साधक के द्वारा ब्रह्म की अनुभूति होती है तो वह ब्रह्म में लीन तो अवश्य हो जाता है लेकिन लीन होने की भावना को भी जानता है। जैसे सूर्य के प्रकाश में मोमबत्ती। यद्यपि मोमबत्ती सूर्य के प्रकाश में लीन तो हो जाती है तथापि उसका अस्तित्व भी है क्योंकि वह जलती जो है।[1] वह सूर्य के प्रकाश में नहीं भी है और है भी। यही रहस्यवाद की भावना है। साधिका आत्मा ब्रह्म की लाली में मिल कर भी कहती है लो, मैं भी लाल हो गई।

इस प्रकार रहस्यवाद ब्रह्म की महान् अनुभूति में भी व्यक्तित्व की भावना सुरक्षित रखता है। रहस्यवाद से यह भी निश्चित हो जाता है कि ब्रह्म की शक्ति अपरिमित होकर साधक की शक्ति से उच्चतर है। वह अन्तर्व्यापी होते हुए भी सर्वोपरि है। अन्तर्व्यापी इस रूप में कि वह संसार के कण कण में वर्तमान है। कणों में व्याप्त इसी ब्रह्म को साधक खोज कर पहिचान लेता है। और सर्वोपरि इस रूप में कि साधक के द्वारा हृदयंगम हो जाने पर भी ब्रह्म की सत्ता श्रेष्ठतर रहती है। जिस प्रकार बहुरंगी पक्षी जल में सौ बार डूब कर भी अपने पंखों का रंग नहीं खोता, उसी भाँति सर्वोपरि ब्रह्म संसार में अनेक बार प्रवेश कर भी अपनी उच्चता

---

[1] नव प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं।

(मेरी किरण-कण शीर्षक कविता)

सुरक्षित रखता है। इसलिए सूफ़ीमत में हक़ को 'लाहूत' और 'नासूत' इन दो गुणों से विभूषित किया गया है। लाहूत का संबन्ध हक़ की आध्यात्मिक शक्ति-संपन्नता से है और नासूत का संबन्ध सांसारिकता से। ब्रह्म संसार में रहते हुए भी संसार से परे है। यह बात साधक में नहीं होती, अतः ब्रह्म के समक्ष वह अप्रधान है। इसीलिए साधक अपने संपूर्ण आत्म-समर्पण के साथ ब्रह्म के समीप पहुँचता है। वह अपनी गति-शीलता में ब्रह्म के समान अवश्य ज्ञात होने लगता है जिस प्रकार गति में एक विन्दु भी रेखा बन जाता है। और आग की एक चिनगारी अपनी गति-शीलता में सूर्य का मण्डल बना लेती है लेकिन अन्ततः वह अपने वास्तविक रूप में एक विन्दु या चिनगारी ही है। इस रहस्यवाद की भावना में प्रेम की प्रधानता है। यह प्रेम ही आत्मा को ब्रह्म के समीप ले जाता है और आत्म-समर्पण में परिणत होता है। इस प्रेम में स्वार्थ या आत्म-तुष्टि की भावना नहीं होती, इसमें होती है एक मात्र अपनी अभिव्यक्ति। इसी अभिव्यक्ति में आत्मा ब्रह्म में जीवित रहती है जैसे एक तारा पूर्णिमा के चन्द्र प्रकाश में अपना आत्म-समर्पण करते हुए भी आकाश में चमकता है।

प्रेम का प्रादुर्भाव विवेक में नहीं है। उसकी उद्भावना भाव में है। इसीलिए प्रेम के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, वह तो आत्मा का अत्यन्त मधुर संगीत है जिसकी तरंग में व्यष्टि समष्टि में परिणत होता है। विवेक तो शैतान है जो साधक को भावना-पथ से दूर ले जाकर तर्क की मरुभूमि में छोड़ देता है। इसलिए रहस्यवाद में ज्ञान और विवेक के लिए कोई स्थान नहीं है। अनुभूति के लिए पाण्डित्य की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है जीवन के निकटतम स्पर्श की और यह स्पर्श प्रेम की अत्यन्त मादक और तीव्र शक्ति से सहज ही प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रेम की चरम अभिव्यक्ति दाम्पत्य प्रेम में है। अन्य प्रकार का प्रेम किसी न किसी परिस्थित में अपूर्ण है, इसकी पूर्णता एक मात्र दाम्पत्य संबन्ध में है। आत्म-समर्पण की भावना इसी दाम्पत्य प्रेम में फलीभूत

होती है। साधक का रोम रोम एक एक वाणी बन कर अपने हृदय की विह्व-लता का परिचय दे सकता है। इस प्रेम के आलोक में करुण से करुण भावनाएँ भी एक अनिर्वचनीय उल्लास से ओतप्रोत रहती हैं, इसीलिए तो मारगेरेट स्मिथ ने कहा है—रहस्यवादी के लिए यह प्रेम जीवन की मदिरा है जिसमें उल्लास का नशा है, जिसने यह मदिरा पी वह सब प्रकार से कृतकृत्य हुआ।[1]

कबीर के प्रेम में मादकता, उल्लास और संगीतात्मकता यथेष्ट मात्रा में हैं। वह जीवन के अन्तर्तम प्रदेश का स्पर्श करता है। वह हृदय की संपूर्ण भावनाभिव्यक्ति से सत्य के समीप पहुँचता है। इस प्रेम में संयोग और वियोग दोनों के चित्र हैं। लेकिन यह संयोग और वियोग शारीरिक पुकार का रूपक होते हुए भी इससे परे है। इससे आत्म-जिज्ञासा के साथ आत्म-सुख भी है। इस प्रेम में उत्सर्ग ही प्राप्ति है और मरण ही जीवन है। इसी विचार को लेकर तो ईशावास्योपनिषद् ने "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्" की कल्पना की है। अतः इसमें बुद्धिवाद के लिए स्थान नहीं है किन्तु यह इतना व्यापक है कि भाषा की भुजाओं से पकड़ा नहीं जा सकता। इसी भावना में जीवन नये नये अंकुरों में निकलता है, सन्देह और भ्रम की मिट्टी उसका मार्गावरोध नहीं कर सकती। एक मात्र आराध्य के प्रति भावना का चरमोत्कर्ष ही प्रेम की परिभाषा है। कबीर कहते हैं—

नैनां अंतरि आव तूं ज्यूँ हौं नैन झँपेउँ।
ना हौं देखौं और कूँ नां तुझ देखन देउँ ॥[2]

जब इसी प्रेम में विरह की पीड़ा उठती है तब तो संसार की समस्त करुणा जैसे कण कण में विभाजित होकर ओस की भाँति द्रवित हो उठती है। आत्मा विरहिणी की भाँति चीत्कार कर उठती है। विश्वात्मा एक

---

[1] स्टडीज़ इन अरली मिस्टिसिज़्म, पृष्ठ २५१—२५२

[2] कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १६

निष्ठुर प्रेमी की भाँति दृष्टिगत होता है जो प्रेम करने की क्षमता लिए हुए भी प्रेम नहीं करता। उसे प्रसन्न करने के लिए शरीर नष्ट करना भी साधारण सी बात है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म अलौकिक धरातल से नीचे आकर एक व्यक्ति की भाँति ज्ञात होने लगता है। वह सरलता से मानव-हृदय की समझ में आने लगता है। प्रेमी अपने ब्रह्म को अपने ही क्षेत्र में लाकर उससे प्रेम करना चाहता है। कबीर ने रहस्यवाद में आत्मा को विरहिणी का रूप देकर अपने निराकार ब्रह्म को भी व्यक्तित्व के अन्दर सीमित कर दिया है। वे कहते हैं—

> बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
> जिव तरसै तुव मिलन कूँ मनि नाहीं विश्राम ॥[1]

इस प्रेम में प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है—चातुर्य की भी नहीं। इसमें तो निश्छल भाव से अपने आराध्य की अत्यन्त सरलता से अनुभूति होनी चाहिए। कपट के लिए तो कहीं स्थान ही नहीं है। अपने को उच्च आसन पर अधिष्ठित कर प्रेम करने की प्रवृत्ति कमरे में ऊँट खोजने के समान है। रूमी ने अपनी मसनवी में इस संबन्ध में एक बड़ी मनोरंजक बात कही है। एक राजा अपने महल में सो रहा था। आधी रात को उसे कमरे में कुछ आहट मिली। उसने जाग कर पूछा—कौन है? आवाज़ आई कि हम लोग अपना ऊँट खोज रहे हैं। बादशाह ने कहा—ऊँट? क्या ऊँट इस कमरे में है? उन लोगों ने कहा कि हम लोग इस कमरे में उसी तरह ऊँट खोज रहे हैं जैसे तू ऊँचे तखत पर बैठ कर ईश्वर से मिलने का इरादा कर रहा है।[2]

---

[1] कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८

[2] सरफ़रो करदन्द क़ौमे बुल अजब। मा हमी गरदेम शब बहरे तलब ॥
हैं चे मी जोयेद गुफ़्तन्द उशतुराँ। गुफ़्त उशतर बाम बर के जुस्त हाँ ॥
पस बगुफ़्तन्दश कि तू बर तख़्ते जा। चूं हमी जोई मुलाक़ाते इला ॥
(मसनवी—जलालुद्दीन रूमी)

अपने आराध्य की खोज में तो सांसारिक वैभव का साहचर्य ही नहीं है। हृदय की अत्यन्त कोमल और नम्र भावना में ही अपने आराध्य से मिलन होता है। प्रेम में हृदय को टुकड़े टुकड़े कर देने की आवश्यकता है। पत्थर धूल होकर हवा की गति में मीलों उड़ जाता है। अपने गुरुत्व के बोझ में तो वह जड़ होकर पृथ्वी की छाती पर भार होकर पड़ा रहता है। जिस प्रकार मैली रुई धुनने से सफ़ेद हो जाती है उसी प्रकार हृदय को खंड खंड करने से उसमें पवित्रता आ जाती है। इसीलिए तो करुणा प्रेम की सहायिका हो जाती है। यह करुणा की बाँसुरी उसी की सहचरी है जो वियोगी है। वह इसीलिए रोती है कि उसमें प्राण फूँक दिए गए हैं। बाँसुरी का एक मुख प्रियतम के ओष्ठ में है, दूसरा नीचे। एक मुख से वह अधरामृत पान करती है दूसरे मुख से क्रन्दन। सम्भवतः दूसरा मुख इसी-लिए क्रन्दन करता है कि वह अपने आराध्य के मुख में नहीं है। प्रेम में अपने आराध्य के वियोग में आत्मा का यही रुदन है। उस प्रेम में सुखों की पूर्ण उपेक्षा है। प्रेम की विरहिणी को प्रासादों में भी खँडहरों की दुर्गन्धि आती है। वह एकाकिनि होकर खुद खोजना चाहती है, किसी परिचारिका को साथ नहीं लेती। वह अपने हृदय के सितार पर अनुराग की ऐसी गत बजाती है कि उसका समस्त अस्तित्व ही अनुराग से गूँजने लगता है फिर अपनी गतिशीलता में वह ब्रह्म से मिल जाती है क्योंकि ब्रह्म स्वयं अनन्त गतिशील है। और इस गतिशीलता में लीन हो जाना ही उसकी साधना का पुरस्कार है। जिस प्रकार बीज अपनी अंकुरित रेखा में एक से सहस्र हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी ब्रह्म में प्रतिफलित होती है।

इस प्रेम और करुणा में सहोदर संबन्ध है। सच्चे प्रेम की प्रस्तावना में करुणा आ जाती है और करुणा से प्रेम का वास्तविक सौन्दर्य निखर आता है, जैसे ओस से धुल जाने पर फूल और भी सुन्दर दीख पड़ता है; इस प्रेम से करुणा फूल से सुगन्धि की भाँति फूट निकलती है। वह उधार नहीं ली जाती। विशुद्ध ब्रह्म की अभिव्यक्ति प्रेम में उसी भाँति हो जाती

है जैसे आनन्द की अभिव्यक्ति संगीत में है, विकास की अभिव्यक्ति जीवन में है। इस प्रकार रहस्यवाद में निम्नलिखित तत्व निहित हैं—

(१) आत्मा में आध्यात्मिक दृष्टि से अनुभूति की क्षमता हो। अर्थात् आन्तरिक दृष्टि से वह अपने आराध्य को खोजने के लिए सूर्य की किरण की भाँति सर्वत्र गतिशील हो। वह अपनी यात्रा में दिशाओं को इसी पार छोड़ कर आगे बढ़ जाय। वह सप्ताकाश से भी ऊपर जाने की क्षमता रखे।

(२) उसमें अपने आराध्य से मिलने की भावना का स्मरण रहे। आत्मा और आराध्य में ऐक्य हो, एकीकरण नहीं। आत्मा के व्यक्तित्व का विनाश न होकर विकाश हो।

(३) आत्मा और आराध्य में प्रेम निश्छल रूप से प्रगतिशील रहे। इस प्रेम में आत्म-समर्पण की भावना है। दाम्पत्य प्रेम के अनुरूप ही इसमें संपूर्ण व्यक्तित्व अनुराग से ओतप्रोत हो उठे।

रहस्यवाद की कविता इन तीनों तत्वों को लेकर एक आनन्दानुभूति में जन्म लेती है। यह आत्मा की सब से पवित्र अभिव्यक्ति है। मेरी कविता के दृष्टिकोण में यही रहस्यवाद रहा है और इसी में मेरी भावनाओं का विकास हुआ है।

मैं यहाँ एक बात और स्पष्ट कर दूँ। कविता भावना के संघर्ष में चिनगारी की भाँति फूट निकलती है। सुख की अपेक्षा दुःख में प्राणों का अधिक स्पन्दन होता है और प्राणों के स्पन्दन के साथ ही कविता गूँज उठती है। यही कारण है कि सूरदास संयोग-शृङ्गार का उतना कवित्वमय चित्रण नहीं कर सके जितना वियोग-शृङ्गार का। दुःख में कविता स्वाभाविक रूप से आवश्यक हो जाती है। सांसारिक जीवन के साथ तो दुःख उसी प्रकार है जैसे दीपक के चमकीले वस्त्र के भीतर जलन। मनुष्य दर्पण होकर भी अपनी परछाईं में बैठा है। वह दर्पण के पीछे बैठ कर अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहता है। और यहीं दुःख का आरंभ होता है। इस प्रकार दुःख कविता की बड़ी प्रेरक शक्ति है। उसीमें जीवन का विवेचन है और अभाव

का संकेत। एक कवि यह सब स्वाभाविक रीति से कह जाता है, उसे किसी प्रकार भी प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रयास में कविता नहीं है— कविता का भ्रम है।

आधुनिक समय के कवि छन्द को कविता का बन्धन मानते हैं। वे मुक्त वृत्ति में अपनी भावनाओं को उँड़ेल कर निर्द्वन्द्व रूप से कविता लिखे चले जाते हैं। यह स्वतन्त्रता उन्हें भावों के प्रकाशन में स्वच्छन्दता भले ही प्रदान करे किन्तु यह कविता के नादात्मक रूप की, उसके नैसर्गिक सौन्दर्य की उपेक्षा करती है। कविता की विशेषता तो इसी में है कि वह नियमों के अन्तर्गत रहती हुई भी उनसे परे हो जाती है। फूल पंखड़ियों में सीमित रहते हुए भी अपनी सुगन्धि में असीम है, सिन्धु अपनी मर्यादा में रहते हुए भी अपनी स्वतन्त्रता में विराट् है। पक्षी पंखों के बन्धन में रहते हुए भी गगन-मण्डल में विचरणशील है। अपने नियमों से ही कविता स्वतंत्रता की परिधि तक पहुँचती है। उसकी स्वतंत्रता में उसके नियम ही सहायक हैं। यदि कविता नियम रहित हो जाय तो वह अपनी उच्छृङ्खलता में सौन्दर्य का ही विनाश करती है और विना सौन्दर्य के स्वतंत्रता केवल विशृङ्खलता (Chaos) में परिवर्तित होगी।

अतः मैं कविता में उसके भावात्मक और रूपात्मक दोनों प्रकार के सौन्दर्य का समर्थक हूँ। कविता अपनी गति में ही स्वतंत्र होती है—वह अक्षरों, शब्दों, और मात्राओं से परे होती है। जिस प्रकार जीवन में आन्तरिक सौन्दर्य के साथ ही साथ, बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा है, सिद्धान्त के साथ आचरण की एकरूपता अपेक्षित है, उसी प्रकार कविता में भी अनुभूति के साथ नियमित गति होनी चाहिए।

आधुनिक कविता में विलास और निराशा की भावना विशेष रूप से है। हमारा कवि दूध पीने वाले बच्चे की तरह इन्द्रियों की गोद में बैठ कर बन्दी हो गया है। फूल अपने लिए फूलता है, काला कीट उसे चुपके से खा डालता है। सौन्दर्य चेतनता की निधि है, विलास उसका विनाश करता है। इन्द्रियों की अग्नि प्रेम को जला देती है। तृप्ति होने पर प्रेम और सौन्दर्य

रह कहाँ जाता है ? प्रेम के धनुष पर बैठ कर यह विलास बाण की तरह चलता है किन्तु अन्त में पतन ही उसका ध्येय है। विलास तभी स्थायी होता है जब उसमें एक व्यञ्जना होती है—सूर और उमरखैयाम की कविता में जो विलास है वह चिरन्तन है। इसी भाँति अध्यात्म क्षेत्र में निराशा का मूल्य बहुत अधिक है। कबीर ने अपने पदों में तो आत्मा को 'विरहिन' माना है लेकिन भौतिक क्षेत्र में निराशा श्लाघ्य नहीं है। मैं रहस्यवाद की निराशा का पोषक हूँ भौतिकवाद की निराशा का नहीं। विनाश और मृत्यु में मनुष्य का विकास और जीवन है। मृत्यु की सुई अपने पीछे जीवन का धागा लिए हुए है। जिस प्रकार एक वृत्ति की परिधि में बैठा हुआ अन्तिम विन्दु फिर प्रथम विन्दु हो जाता है उसी प्रकार विनाश में ही विकास का जन्म होने लगता है। आदि को लौटना ही अन्त का दूसरा नाम है। अतः विकास और विनाश में विरोध नहीं है। वे जीवन के चिरप्रवास के विश्राम हैं।

कविता में स्थान स्थान पर मेरे यही विचार अंकित हुए हैं। इसके आगे अपनी कविता की आलोचना करने में मैं असमर्थ हूँ। एक ही भावना से विविध प्रकार की कल्पनाएँ क्यों और कैसे हुईं यह मैं जानने में असमर्थ हूँ। एक ही मिट्टी और पानी में क्या बात हो गई कि भिन्न भिन्न रंग के फूल और काँटे एक साथ निकल आए ?

रामकुमार

कविताओं का क्रम

आधुनिक कवि

३

संकेत

१६३६

१

साँसों के चञ्चल समीर में,
जीवन-दीप जलाऊँ !
बन प्रकाश की ज्योति—
अँधेरे में छिपने को आऊँ !
करुणा के सागर में उठती हैं जब हिम्ब हिलोरें—
प्रिय-दर्शन-वरदान माँगती हैं नयनों की कोरें—
बाँध-बाँध आशा-बन्धन में,
तब मन को सुलझाऊँ !
दूर बसे हो, केवल स्मृति ही आकर यहाँ बसी है—
प्राणों के कण-कण से पीड़ा तुमने यहाँ कसी है—
अभिलाषा-तरु में विकसित हो,
दो दिन में मुरझाऊँ !

२

मेरे इस जीवन-मरु में क्यों रूप-सुधा बरसायी ?
दो क्षण के प्रभात में ऐसी जीवन-निधि क्यों आयी ?
मेरे स्वर परिमित हैं जैसे प्रातः नभ के तारे ।
किन्तु मिलन के भाव न भर सकते हैं सागर सारे ।।
जीवन का यह बाण चुभा है मुझ में कैसा विषमय !
क्या निकाल सकते हैं अन्तिम क्षण के हाथ तुम्हारे ?
तन के लघु घट में अतृप्ति सागर की लहर उठायी ।। मेरे०
प्रिय, यह रात बहुत छोटी थी कैसे मैं मिल पाऊँ ?
मेरा स्वर नश्वर है, कैसे गीत तुम्हारे गाऊँ ?
साँसों के टुकड़े कर डाले, वे भी नियमित गति में
कैसे इनमें चिर-मिलाप का जीवन आज सजाऊँ ?
एक सुमन के जीवन ने क्यों यह वसन्त-श्री पायी ? मेरे०

३

तू जीवन का अभिसार लिये—
जग के पीछे क्यों बेकल है,
ये साँसें बस दो-चार लिए !
हँसती थी वह वसन्त-श्री जब,
कोकिल ने स्वर-शृङ्गार किया।
इस व्यथित जगत् को पल भर में,
सुषमा का सुख-संसार किया ॥
लेकिन यह नभ बदला न, झुका ही—
रहा नियति का भार लिये ! !
ओ कवि, तू अब तो जाग,
प्रकृति का यह परिवर्तन पुण्य मान।
यदि कर न सके सुख-सृष्टि आज,
तो तू मानस की हार जान ॥
तेरी ही तो साधना जगत् के
उर में है अवतार लिये !
तू जीवन का अभिसार लिये !

४

मैं इस जीवन में आया हूँ
तुमसे परिचय पाने।
एक सत्य को सुख से सौ-सौ
स्वप्नों में उलझाने॥
सागर बनकर ओस-बिन्दु में, आया यहाँ समाने।
उड़ जाऊँगा दो क्षण ही में—
जाने या अनजाने॥
रात्रि दिवस के गीतों से आया संसार सुलाने।
तुम्हें देख लूँगा प्रति पल,
जागृति के लिए बहाने॥
एकाकी हूँ—सुख या दुख को, मेरा उर क्या जाने ?
जाग रहा हूँ अन्धकार के—
उर में ज्योति जगाने॥

५

प्रिय ! तुम भूले मैं क्या गाऊँ ?
जिस ध्वनि में तुम बसे उसे,
जग के कण-कण में क्या बिखराऊँ ! प्रिय०
शब्दों के अधखुले द्वार से अभिलाषाएँ निकल न पातीं।
उच्छ्वासों के लघु-लघु पथ पर इच्छाएँ चलकर थक जातीं॥
हाय, स्वप्न-सङ्केतों से मैं,
कैसे तुमको पास बुलाऊँ ? प्रिय०
जुही-सुरभि की एक लहर से निशा बह गई, डूबे तारे।
अश्रु-विन्दु में डूब-डूबकर, दृग-तारे ये कभी न हारे ! !
दुख की इस जाग्रति में कैसे,
तुम्हें जगाकर मैं सुख पाऊँ ?
प्रिय ! तुम भूले मैं क्या गाऊँ ?

६

जब तुम आये हो एक बार !

तब मैंने जाना है, जीवन बन गया मिलन का एक द्वार ॥

अपनी अभिलाषा का ज्योतित क्षण,

तुम में जाकर हुआ लीन !

जैसे नभ से तारा टूटा,

हो गया मार्ग में निराकार ॥

सिहरन-लहरों में अपनापन,

बह गया दूर, बह गया दूर !

अब मैं क्या हूँ, यह तुम जानो,

यह तुम जानो; मेरे उदार ! !

यह ज्योत्स्ना, यह तरु, यह मानव,

ये सब प्रिय क्यों हो रहे ज्ञात ?

कल की कलिका कहती है—

"बन्धन से कैसा सौरभ-प्रसार ?"

७

भूलकर भी तुम न आये!
आँख के आँसू उमड़कर,
आँख ही में हैं समाये॥
सुरभि से शृङ्गारकर—
नव वायु प्रिय-पथ में समाई,
अरुण कलियों ने स्वयं सज,
आरती उर में सजाई।
वन्दनाकर पल्लवों ने,
नवल वन्दनवार छाये॥
मैं ससीम, असीम सुख से,
सींचकर संसार सारा।
साँस की विरुदावली से,
गा रहा हूँ यश तुम्हारा।
पर तुम्हें अब कौन स्वर,
स्वरकार! मेरे पास लाये?
भूलकर भी तुम न आये!

८

मेरे जीवन की ज्योति जाग !
यह नव वसन्त है ? नहीं, यहाँ—
रङ्गों में छिपकर लगी आग ! !
अम्बर का यह विस्तृताकार
सन्ध्या में लेकर तिमिर-भार
है मौन बैठता—यहाँ भूमि है,
भ्रमित हो रही भाग-भाग । मेरे जीवन० ।
रजनी में भी राकेश-कान्ति—
किसको देती है अरे शान्ति ?
उस नव बाला के कलित कण्ठ से —
मुखरित है विचलित विहाग ।
मेरे जीवन की ज्योति जाग !

६

मैं आज तुम्हारे मन्दिर में
पूजा का कुछ सामान लिए—
आया हूँ एक वीतरागी-सा,
केवल अपने प्राण लिए ॥

दो प्रहर बीत भी सके न,
तन जर्जर हो गया—बहुत जर्जर;
जैसे तरु एक—और उसमें
साँसों का गूँज रहा मर्मर,

है शून्य दृष्टि, प्रतिबिम्बित है,
यह शून्य-शून्य-सा अमराम्बर;
तारों के दो आँसू अटके हैं
एक इधर है—एक उधर,

यह फूल खिला है—बेचारा ! !
केवल गिरने का ज्ञान लिए ॥
मैं आज तुम्हारे मन्दिर में
पूजा का कुछ सामान लिए—
यह कौन कह रहा है . . "देखो—
सन्ध्या प्रातः में है अन्तर;

इन साँसों के लघु लघु प्रवाह में
बीत चुके हैं मन्वन्तर,
यह सब संसार सिमिट जैसे—
बस गया आज मेरा अन्तर;
चिर अन्धकार में दीपक सी—
मेरी चितवन हो गई अमर,
मैं जाग्रत हूँ ! मैं सोऊँगा क्यों ?
बिना एक पहिचान लिए ॥
मैं आज तुम्हारे मन्दिर में
पूजा का कुछ सामान लिए—

मैं तुमसे मिल जाऊँ।
फूलों के कुछ छन्द बनाकर
इस उपवन में गाऊँ॥
मलय समीरण-सी तुम आओ—
बन्धनहीन विहारिणि,
जगत् तुम्हें क्या पावे ? मैं
अपनी साँसों में पाऊँ॥
सुख-दुख तो कंटक-से हैं
देखो इनको दुखहारिणि,
ये लगते रहते हैं, जिससे
मन इन में उलझाऊँ॥
मैं तुमसे मिल जाऊँ।

११

वियोगिनि, यह विरह की रात !
आँसुओं की बूँद ही में बह गई अज्ञात !
कब मिले थे वे—तुझे क्या है न कुछ भी याद ?
खोजती ही रह गई, जग का बुझा-सा प्रात ॥
अन्धकार प्रशान्त था—नभ के हृदय में, और—
तू न उसको पारकर जग में रही अज्ञात ॥
वियोगिनि, यह विरह की रात !

तुम्हें आज पाकर चञ्चल हूँ,
मैं आशाओं के उभार में।
जैसे ये तारे देखो—
दुहरे-तिहरे हो उठे धार में॥
ध्वनि-लहरें हिल-डोल उठों, इस पार और उस पार हमारे,
जैसे मौन सुरभि की लघु गति,
फैल गई है हार हार में॥
ज्योत्स्ना है, मानो अपने वे रजत स्वप्न सच होकर आ,
जुही झाँकती है समीर को,
लता-कुंज के द्वार द्वार में॥
आओ, अपनी छाया में हम प्रेम-मिलन के चित्र निहारें,
एक बार में दो मिलाप हैं,
देखो तो अपने विहार में॥
इसी मिलन के बल पर मैं, नश्वरता सुख से सहन करूँगा।
अपनेपन का भार खो चुका,
अश्रु-धार के एक ज्वार में॥

मैं जीवन में जाग गया !

धूमराशि-सा गिरकर, उठकर,

सुख-दुख का भय भाग गया !!

कोकिल कूक उठी क्षण भर में,

अनायास पञ्चम था स्वर में।

एक मधुर वर्षा, मधु-गति से—

बरस गई मेरे अम्बर में ॥

स्पर्श, शब्द, रस, रूप, गन्ध का—

क्या अनुराग, विराग गया ?

दीप शिखा वह हिलकर घूमी,

शलभ-राशि छवि-मद में झूमी।

नेत्र देखते रहे—दैत्य-सी

ज्वाला ने कोमलता चूमी ॥

और शलभ, वह दीपक को—

जग में जलता ही त्याग गया !!

मैं जीवन में जाग गया !

चन्द्रकिरण

१९३७

१

मैं तुम्हारे नूपुरों का हास।
लघु स्वरों में बन्द हो
पाऊँ चरण में वास।
मैं तुम्हारी मौन गति में
भर रहा हूँ राग;
बोलता हूँ यह जताने
हूँ तुम्हारे पास।
चरण-कम्पन का तुम्हारे
हृदय में मृदु भाव।
कर रहा हूँ मैं तुम्हारे
कण्ठ का अभ्यास।
हूँ तुम्हारे आगमन का
पूर्व लघु सन्देश;
गति रुकी, तो मौन हूँ,
गति में अखिल उल्लास।
मैं चरण ही में रहूँ
स्वर के सहित सविलास;
गति तुम्हारी ही बने
मेरा अटल विश्वास।

२

शून्य से उन्मुक्त कर
करुणा-कणों की यामिनी !
भावना की मुक्ति मुझको
दे सकोगी स्वामिनी ?
वायु की साँसें बिखरकर
पा रही निर्वाण हैं;
यह सुरभि भी वायु की है
बन रही अनुगामिनी।
यदि मुझे आभास देते—
हो कि बन्धन सत्य है;
घोर घन-प्राचीर में तो
क्यों व्यथित है दामिनी ?
दो मुझे वह सत्य, जो
संसार का शासन करे;
चिर दुखों की रात्रि भी
मुझको बने मधुयामिनी।

३

एक दीपक-किरण-कण हूँ।

धूम्र जिसके क्रोड़ में है,

उस अनल का हाथ हूँ मैं।

नव प्रभा लेकर चला हूँ,

पर जलन के साथ हूँ मैं।

सिद्धि पाकर भी तुम्हारी

साधना का ज्वलित क्षण हूँ। एक०

व्योम के उर में अपार

भरा हुआ है जो अँधेरा -

और जिसने विश्व को

दो बार क्या, सौ बार घेरा।

उस तिमिर का नाश करने—

के लिये मैं अखिल प्रण हूँ। एक०

शलभ को अमरत्व देकर

प्रेम पर मरना सिखाया।

सूर्य का सन्देश लेकर

रात्रि के उर में समाया।

पर तुम्हारा स्नेह खोकर—

भी तुम्हारी ही शरण हूँ। एक०

करुणा की आई छाया।
कोकिल ने कोमल स्वर भर
कुञ्जों-कुञ्जों में गाया।
जब विश्व व्यथित था, तुमने
अपना सन्देश सुनाया;
तरु के सूखे-से तन में
नव जीवन बनकर आया।
अपनी साँसों पर जीवन
कितनी ही बार भुलाया;
पर इतने रूपों में भी
क्या मैंने तुमको पाया?
यह जीवन तो छाया है,
केवल सुख-दुख की छाया;
मुझको निर्मितकर तुमने
आँसू का रूप बनाया।
करुणा की आई छाया।

५

मेरे जीवन में एक बार
तुम देखो तो अनुपम स्वरूप;
मैं तुममें प्रतिविम्बित होऊँ,
तुम मुझमें होना ओ अनूप!

राका-शशि अपनी रश्मि-माल
जब रजनी को पहनाता हो;
अथवा जब फूलों के तन से
प्रेयसि सुगन्धि का नाता हो,

जब विमल ऊर्मि में लघु बुद्बुद
उल्लास-पीन लहराता हो;
जब तरु से लतिका का अन्तर
मधु-ऋतु में कम हो जाता हो,

उस समय हँसो, तो बरस पड़े
कण कण में विश्वों का स्वरूप।
मैं तुममें प्रतिविम्बित होऊँ,
तुम मुझमें होना ओ अनूप!

६

वह बोल उठी कोकिल अधीर!
मेरे वसन्त के भीतर भी
दिख पड़ी शिशिर की क्या लकीर?
उसने तो मधु-ऋतु में गाया;
पर क्यों उसका उर भर आया,
क्या देखी उसने धूल, जहाँ मेरी प्रेयसि का है शरीर?
उसने निज स्वर इस ओर किया,
कुसुमित तरु को झकझोर दिया,
गिर पड़े भूमि पर मतवाले-से
कामदेव के सुमन-तीर।
मत बोल, मौन हो ओ अधीर!
यह निशा शान्त है यह समीर।
मेरी प्रेयसि का मधुर स्वप्न
कर्कश स्वर से मत आज चीर।
वह बोल उठी कोकिल अधीर!

मैं सुखी और यह विश्व विकल।
तारे किस आशा से प्रतिदिन
शून्य गगन में रहे निकल।

इस तृष्णा का पाया न अन्त;
फिर-फिर क्यों कुसुमित हो वसन्त,
बादल का लेकर विकृत रूप;
क्यों अस्थिर हो सागर अनन्त ?
उषा, न कोई मिला, कर चुकी
कितने ही शृंगार विफल।

मेरे जीवन की रेख श्वास;
अपनेपन से ही कर विलास,
होकर अपनी ही परिधि मञ्जु,
रोती-हँसती बन रुदन-हास।
प्रतिपल चलकर भी यह मुझको
बना चुकी अविकल, अविचल।
मैं सुखी और यह विश्व विकल।

८

आज देख ली अपनी भूल।
सुन्दरता के चयन हेतु
तोड़े मुरझानेवाले फूल।
जिस जीवन में हूँ मैं अथ से;
निकल रहा साँसों के पथ से,
रात्रि-दिवस की श्याम-श्वेत गति,
समझ रहा हूँ मैं अनुकूल!
समय हँसा; सुख उसको जाना;
यह जग तो था एक बहाना,
ये ग्रह, ये नक्षत्र कुछ नहीं,
नभ में हँसती है कुछ धूल!
आज देख ली अपनी भूल।

चित्ररेखा

१६३५

१

देव, मैं अब भी हूँ अज्ञात !
एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम-मिलन की बात !
तुमसे परिचित होकर भी मैं
तुमसे इतनी दूर !
बढ़ना सीख-सीखकर मेरी
आयु बन गई क्रूर !!
मेरी साँस कर रही मेरे जीवन पर आघात ॥
देव, मैं अब भी हूँ, अज्ञात !
यह ज्योत्स्ना तो देखो, नभ की
बरसी हुई उमङ्ग,
आत्मा-सी बनकर छूती है
मेरे व्याकुल अङ्ग ।
आओ, चुम्बन-सी छोटी है यह जीवन की रात ॥
देव, मैं अब भी हूँ अज्ञात !

२

यह तुम्हारा हास आया।

इन फटे-से बादलों में कौन-सा मधुमास आया ?

यह तुम्हारा हास आया।

आँख से नीरव व्यथा के

दो बड़े आँसू बहे हैं,

सिसकियों में वेदना के

व्यूह ये कैसे रहे हैं।

एक उज्ज्वल तीर-सा रवि-रश्मि का उल्लास आया ॥

यह तुम्हारा हास आया।

आह, वह कोकिल न जाने

क्यों हृदय को चीर रोई ?

एक प्रतिध्वनि-सी हृदय में

क्षीण हो हो हाय, सोई।

किन्तु इससे आज मैं कितने तुम्हारे पास आया !

यह तुम्हारा हास आया।

३

मैं भूल गया यह कठिन राह।
इस ओर एक चीत्कार उठा, उस ओर एक भीषण कराह ॥
मैं भूल गया यह कठिन राह।

कितने दुख, बनकर विकल साँस
भरते हैं मुझ में बार बार,
वेदना हृदय बन तड़प रही
रह रह कर करती है प्रहार,
यह निर्झर—मेरे ही समान
किस व्याकुल की है अश्रुधार!
देखो, यह मुरझा गया फूल
जिसको कल मैंने किया प्यार!
रवि-शशि ये बहते चले कहाँ, यह कैसा है भीषण प्रवाह!!
मैं भूल गया यह कठिन राह।

किसने मरोड़ डाला बादल
जो सजा हुआ था सजल वीर!
केवल पल भर में दिया हाय,
किसने विद्युत का हृदय चीर!!
इतना विस्तृत होने पर भी
क्यों रोता है नभ का शरीर!

वह कौन व्यथा है, जिस कारण
है सिसक रहा तरु में समीर ! !
इस विकल विश्व में भी बोलो, क्यों मेरे मन में उठी चाह ?
मैं भूल गया यह कठिन राह ।

वारिधि के मुख में रखी हुई
यह लघु पृथ्वी है एक ग्रास,
जिसमें रोदन है कभी, या कि
रोदन के स्वर में अट्टहास,
है जहाँ मृत्यु ही शान्ति और
जीवन है करुणामय प्रवास,
वय के प्याले में क्षण क्षण के कण
बढ़ा रहे हैं अधिक ! प्यास ।
दो बूँदों में ही जहाँ समझ पड़ती सागर की अगम थाह ॥
मैं भूल गया यह कठिन राह ।

यह नव बाला है, नारि-वेष—
रखकर आया है क्या वसन्त ?
जिसकी चितवन से पञ्चबाण
निकला करते हैं बन अनन्त,
जिसकी करुणा की दृष्टि विश्व—
सञ्चालित कर देती तुरन्त,
उसके जीवन के एक बार के
क्षुद्र प्रणय में व्यथित अन्त !
यह छल है, निश्चय छल ही है, मैं कैसे समझूँ इसे आह ! !
मैं भूल गया यह कठिन राह ।

रजनी का सूनापन विलोक

हँस पड़ा पूर्व में चपल प्रात,

यह वैभव का उत्पात देख

दिन का विनाश कर जगी रात,

यह प्रतिहिंसा इस ओर और

उस ओर विषम विपरीत बात,

नभ छूने को पर्वत-स्वरूप

है उठा धरा का पुलक गात।

है एक साँस में प्रेम दूसरी साँस दे रही विषम दाह॥

मैं भूल गया यह कठिन राह।

ओसों का हँसना बाल-रूप

यह किसका है छविमय विलास?

विहगों के कण्ठों में स-मोद

यह कौन भर रहा है मिठास?

सन्ध्या के अम्बर में मलीन

यह कौन हो रहा है उदास?

मेरी उच्छ्वासों के समीप

कर रहा कौन छिपकर निवास?

अब किसी ओर चीत्कार न हो,

मैं कहूँ न अब दुख से कराह!!

'मैं भूल गया यह कठिन राह।'

४

फैला है नीला आकाश ।

सुरभि, तुम्हें उर में भरने को

फैला है इतना आकाश ॥

तुम हो एक साँस-सी सुखकर

नभ-मण्डल है एक शरीर ।

यह पृथ्वी मधुमय यौवन है

तुम हो उस यौवन की पीर ॥

पथ बतला देना तारक—

दीपक का दिखला नवल प्रकाश ।

सुरभि, तुम्हें उर में भरने को

मैं फैलूँगा बन आकाश ॥

५

मेघों का यह मण्डल अपार
जिसमें पड़कर तम एक बार ही
कर उठता है चीत्कार ! !
ये काले काले भाग्य-अङ्क
नभ के जीवन में लिखे हाय !
यह अश्रु-विन्दु-सी सरल बूँद भी
आज बनी है निराधार ! !
यह पूर्व दिशा जो थी प्रकाश की—
जननी छविमय प्रभापूर्ण,
निज मृत शिशु पर रख नमित माथ
बिखराती घन-केशान्धकार ! !
जीवन है साँसों का छोटे छोटे—
भागों में चिर विलाप,
अब भार-रूप हो रही मुझे
मेरी आँखों की अश्रु-धार ॥
वर्षा है, नभ औ' धरा बीच
मिलने का है क्या बँधा तार !
नभ में कैसा रोमाञ्च हुआ
बिजली का विचलित वेष धार ! !

सुख दुख के चरणों से विशाल
करता है सम्मुख नृत्य कौन ?
मैं भूल रहा हूँ; मेघ आज
रोकर कैसे है निराकार ! !

जीवन-सङ्गिनि चञ्चल हिलोर।
प्रति पल विचलित गति से चलकर,
अलखित आ तू इसी ओर॥
मैं भी तो तुफ़-सा हूँ विचलित,
कठिन शिलाओं से चिर परिचित,
प्रतिविम्बित नभ-सा चञ्चल चित,
फेनिल के आँसू से चर्चित,
जान न पाता हूँ जीवन का—
किस स्थल पर है सुखद छोर॥
सुनें परस्पर सुख-ध्वनियाँ हम,
मैं न अधिक हूँ, और न तुम कम,
आज न कर पाऊँगा संयम,
मैं न बनूँ तो, तू बन प्रियतम,
मृदु सुख बन जावे इस क्षण में—
विरह-वेदना अति कठोर।
जीवन-सङ्गिनि चञ्चल हिलोर॥

७

इस भाँति न छिपकर आओ।

अन्तिम यही प्रतीक्षा मेरी

इसे भूल मत जाओ॥

रजनी के विस्तृत नभ को जब मैं दृग में भर लेता,
एक एक तारे को कितने भाव-युक्त कर देता!
उसी समय खद्योत एक, आता वातायन द्वारा,
मैं क्या समझूँ, मुझे मिला उज्ज्वल सङ्केत तुम्हारा!

प्रियतम, मेरी स-तम निशा ही को

शशि-किरण बनाओ॥

वह उपवन फूला, पर बोलो उसमें शान्ति कहाँ है?
सुमन खिले, मुरझाये, सूखे, गिरे, वसन्त यहाँ है?
नहीं, मृत्यु ने यहाँ परिधि में बाँधा है जीवन को,
सुख तो सेवक बन रक्षित रखता है दुख के धन को।

प्रियतम, शाश्वत जीवन बन

मन में तो आज समाओ॥

इस भाँति न छिपकर आओ।

निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी।
चल अविचल जल कल-कल पर
गुञ्जित कर गति की लघु लहरी॥
निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी।
साँसों के दो पतवार चपल,
सम्मुख लाते हैं नव नव पल,
अविदित भविष्य की आशङ्का की
छाया है कितनी गहरी!
निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी।
मेरी करुणा का मृदु सावन,
पुलकित कर दे तन-तन मन-मन,
विस्तृत नभ की व्याकुल विद्युत
पल पल बन जाती है प्रहरी॥
निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी।

६

करुणा का गहरा गुञ्जार ।
जिसमें गर्वित विश्व पिघलकर
बनता है आँसू की धार ॥
विश्व-साँस का नव निर्झर प्रिय,
मधु-प्रिय कोकिल का मधु-स्वर प्रिय,
मेरे जीवन के मधुवन में
यह है मधुकण का शृङ्गार ॥
सावन-शिशु घन-अङ्कित अम्बर,
रिमझिम रिमझिम है पुलकित स्वर,
कितने प्राणों के स्वाती में
यह मोती-सा उज्ज्वल प्यार ॥
करुणा का गहरा गुञ्जार ।

सभी दिशाएँ उर से छूकर
फैला यह उदार अम्बर है
और बादलों के काले
कारागृह में बन्दी सागर है॥
कैसा वह प्रदेश है जिसमें—
एक उषा, वह भी नश्वर है!
उज्ज्वल एक तड़ित् है जिसका—
जीवन भी केवल क्षण भर है!!
इस जीवन की व्यथित कल्पना
आज समय-गति-सी चञ्चल है!
नभ से सीमित आज न जाने
क्यों मेरा यह स्वर निर्बल है!!

११

यह कैसा आया बादल !

लघु उर में गूँजा करती है

एक वेदना बहुत विकल ॥

नभ के इस विशाल जीवन में

आँसू का छोटा-सा छल ।

चञ्चल होने पर भी उसकी

भाग्य-रेख इतनी उज्ज्वल ! !

मेरा भी इतना लघु उर है

किन्तु वेदना है अविचल ।

क्या उसमें अन्तर्हित है

करुणा की बूँदों का कुछ जल ?

१२

मेरा जीवन भरा हुआ है

विहगों के मृदु रागों में।

हृदय गूँजता है झींगुर के—

अविदित बँधे विहागों में ।।

देह सिली है मुझसे, इन

ढीली साँसों के धागों में।

मेरी इच्छा लेकर यह नभ

भागा चार विभागों में ।।

ये पल्लव हिल उठे, कौन-सा

सुख दे गया वसन्त-समीर।

क्षितिज, तोड़ दो आज

प्रेम से मेरी पृथ्वी का प्रचार ।।

१३

जीवन की एक कहानी है।

प्रकृति आज माता बनकर

कहती यह कठिन कहानी है॥

एक मनोहर इन्द्रधनुष फैला है नील गगन में,

क्या यौवन की लहर बही है वर्षा के जीवन में?

बादल हैं किस रमणी के सङ्कुचित बाहु-बन्धन में?

एक स्वप्न की रेखा है किरणों के नव जीवन में?

नश्वरता भू पर भिक्षुक है,

पर नभ में वह रानी है॥ जीवन०

अविरत साँसों के पथ पर, प्रिय निद्रा के नर्तन में,

निशा विभाजित हो जाती है तारों के कन कन में,

किन्तु उषा के उल्का से इस नीरव स्वर्ग-सदन में,

दिन की आग आह, लग जाती यह छल परिवर्तन में!

इस रहस्य को समझ, सुमन सूखा!

वह मुझसे ज्ञानी है॥ जीवन०

१४

कलियो, यह अवगुण्ठन खोलो।
ओस नहीं है, मेरे आँसू
से ही मृदु पद धो लो॥
कोकिल-स्वर लेकर आया है
यह अशरीर समीर,
सुखमय सौरभ आज हुआ है
पञ्चबाण का तीर,
मन में कितना है रहस्य
ओ लघु सुकुमार शरीर!
व्योम तुम्हारे रुचिर
रङ्ग में डूबा है गम्भीर,
सुरभि-शब्द की एक लहर में,
तुम क्या हो, कुछ बोलो।
कलियो, यह अवगुण्ठन खोलो॥

१

यह रात—सतम—निस्तब्ध—शान्त,
केवल जग में है सजग श्वास !
हैं शिथिल भ्रमित-से दो पतंग;
मेरे दीपक के आस-पास ! !

नभ-पथ यात्री तारे स-मौन,
हलकी नीली लघु किरण डाल !
जाग्रति का देकर कुछ प्रकाश,
उज्ज्वल करते हैं अन्तराल ! !

कलिका के निद्रित अधर मञ्जु,
कोमल शीतल निस्पन्द बन्द !
दें ऐसे भावों के समूह,
उर में जागें दो-चार छन्द ! !

२

यह अभिनव श्री विकसित हो।

तरु उमङ्ग से निर्मित कलिका,
स्वप्न-रूप से मुकुलित हो
यह अभिनव श्री विकसित हो।
चन्द्र-किरन का उज्ज्वल पावस,
बरस-बरसकर सस्मित हो।
तारों का अस्फुट शिशुपन,
लुक-छिपकर छवि पर विस्मित हो।
यह अभिनव श्री विकसित हो।
मेरे यौवन के वैभव से,
यह अनन्त श्री पुलकित हो।
मेरे जीवन से सदैव ही
इसका जीवन परिचित हो।
यह अभिनव श्री विकसित हो।

३

शान्त है, नीरव है यह रात।

सुकुमारी ! चुप !! पवन न पावे

प्रति-ध्वनि का आघात।

शान्त है, नीरव है यह रात !!

श्वास-तार पर झूल रहा है,

सुप्त शयित संसार।

तारे हावों ही में इङ्गित—

करते कम्पित प्यार।

क्यों चिन्तित हो ? जग-दृग पर है,

मधुर नींद का भार।

मैं हूँ, तुम हो, जाग रहे हैं—

दो विस्तृत संसार।

अपनी वाणी में रख लो,

मेरे उर का सम्वाद।

आओ,- सो जाओ, भूलो

इस जाग्रतपन की याद !!

समय शान्त है मौन तपस्वी-सा तप में लवलीन,
रात्रि मुझे तो दिन ही है, केवल दिनकर से हीन,
नभ के पद पर धरा पड़ी है, यह है चिर अभिशाप,
तारे अपना हृदय खोल दिखलाते हैं सन्ताप।

प्रेयसि, जग है एक—
भटकता शून्य स-तम अज्ञात,
एक ज्योति-सी उठो—
गिरो पथ-पथ पर बनकर प्रात।

मैं तुमसे मिल सकूँ यथा उर से सुकुमार दुकूल,
समय-लता में खिले मिलन के दिन का उत्सुक फूल,
मेरे बाहु-पाश से वेष्ठित हो यह मृदुल शरीर,
चारों ओर स्वर्ग के होगा पृथ्वी का प्राचीर।

नभ के उर में विमल नीलिमा,
शयित हुई सुकुमार,
उसी भाँति तुमसे निर्मित हो,
मेरा उर-विस्तार।

५

मैं तुमसे मिल गया प्रिये !
यह है जीवन का अन्त
इसी मिलन का गीत कोकिले !
गा जीवन-पर्यन्त ।

सुमन मधुप को बुला-बुला कर,
देंगे यह सम्वाद
कलियाँ कल जागेंगी लेकर,
इसी मिलन की याद ।

प्राची के बिखरे सब बादल,
बदल - बदलकर रूप
किरण—साँस में बतला देंगे,
मेरा मिलन अनूप ।

इस संसार—विवर में है,
अति लघु प्राणों का वास
सुख - दुख के दो कोण,
उन्हीं में रुदन और है हास ।

इसके परिमित पल में है—
इस जीवन का उपहास,

एक दृष्टि में जन्म, दूसरी—
में है अमर प्रवास।
यह संसार शिशिर है—
तुम हो विश्वाकार वसन्त
मैं तुमसे मिल गया प्रिये!
यह है यात्रा का अन्त।

६

पल्लव के नव अञ्चल में—
मुख न छिपा मेरी सुकुमारि!
विकल विश्व कोलाहल में।
उषा तोड़ तारों के फूल,
खेल रही है बादल में;
तू भी बन माला की रेख
सो मेरे वक्षस्थल में।
स्वप्न देखकर यह आकाश—
फैला है निर्झर-जल में;
मेरे मानस में तू देवि!
उसी भाँति बिखरे पल में।
मैं तू खिलकर समुद सहास
अब इस जड़ जग-जंगल में;
भूलें नियति, वियति का चक्र,
लय हों निज अन्तस्तल में।

वृन्दावन का वह रास-रङ्ग।

तुम रति-सी आई थीं सभीत, मैं ? मैं था उच्छृङ्खल अनङ्ग।
मेरे कितने थे रखे नाम, गोपाल, कृष्ण, बलवीर, श्याम,
सूनी गलियों में थीं सभीत, इसलिए चलाती मुझे सङ्ग।
नीले नभ में तुम रोज-रोज, कितने ही तारे नये खोज,
मुझसे कहती थीं चलो आज, उनमें रहने की है उमङ्ग।
सच ! झूठ ! ! (कहूँ मैं किस प्रकार), गिरती थीं भू पर हार-हार,
मेरे हाथों में तन समेट, घर जाने का था नया ढङ्ग।
मेरी बनमाला तोड़-तोड़, अपनी माला से जोड़-जोड़।
मेरे उर-तट पर सदा छोड़—देती थीं साँसों की तरङ्ग।
तुम रति-सी आई थीं सभीत, मैं ? मैं था उच्छृङ्खल अनंग।
वृन्दावन का वह रास-रंग।

८
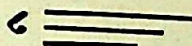
मेरे सुख की किरन अमर!

जीवन-बूँदों से चल-चलकर;

बिखरो इन्द्र-धनुष बन कर।

मेरे सुख की किरन, अमर।

मेरे नव-जीवन बादल में

रङ्ग सुनहला दोगी भर?

बाला बन कर छू लोगी क्या

मेरा यह। पीड़ित अन्तर?

जब मेरे क्षण सोते होंगे

अन्धकार के अम्बर पर;

तब तुम प्रथम प्रकाश-ज्योति बन

उन्हें जगाना चूम अधर।

मेरी आँखों के आँसू के

विन्दु बने नीरव निर्झर;

तब तुम उस धारा पर गिरना

प्रतिविम्बित होकर मृदुतर।

मेरे जीवन-नभ के नीचे

जब हो अन्धकार-सागर;

तब तुम धीरे-धीरे से आ

फेनिल-सी सजना सुखकर।

मेरे जीवन में जब आवें

अन्धकार के श्याम प्रहर;

तब तुम खद्योतों में छिपकर

आ जाना चुपचाप उतर।

मेरे सुख की किरन अमर।

प्रिये, यह मेरा है अधिवास।
इसके पीछे ही मिलता है,
पृथ्वी से आकाश।
प्रिये, यह मेरा है अधिवास।
तारे नभ से किरणों ही
देकर हो जाते मौन,
अन्धकार फैला जाता है,
यहाँ न जाने कौन ?
शिशिर - ग्रीष्म - पावस - शिशु
हँसकर, जल कर, रोकर आह!
बन्दी हैं! (क्यों अरे, तुम्हारे,
दृग में अश्रु-प्रवाह!!)
तुम तो तरुणा करुणा हो,
आई हो मेरे द्वार!
क्या मेरा अधिवास बनेगा
एक अमर संसार ?

१०

इस जग में जीवित हूँ मैं,
कण-कण के परिवर्त्तन से
तुमने मुझको बाँधा है,
इन साँसों के बन्धन से !
चर हूँ, पर नियति नचाती,
मुझको मेरे ही मन से,
नश्वरता से लड़ता हूँ,
यौवन के अवलम्बन से।
मैं भूला अपनापन-पथ,
जग के इस अविदित वन से,
प्रेयसि ! आओ तारों के—
झिलमिल प्रकाश-कम्पन से।

११

कहता है भारत तेरे गौरव की एक कहानी,
वैभव भी बलिहार हुआ था तेरे मुख का पानी।
नूरजहाँ! तेरा सिंहासन था कितना अभिमानी!
तेरी इच्छा ही बनती थी जहाँगीर की रानी!

फूलों के यौवन से सज्जित—
केश-राशि थी खोली,
तन से तो तू युवती थी पर—
मन से कितनी भोली!

एक स्वप्न था कभी आगरे ने विस्मित हो देखा,
मुग़लों के भाग्यों में थी बस एक सुनहली रेखा।
उस रेखा से ही सज्जित तेरी मृदु आकृति आई,
जिस पर छवि-विभूति सोई थी यौवन में अलसाई!

सिंहासन के मणियों ने थी—
शोभा वही निहारी,
जिसके लिए सलीम—
शाहज़ादे से बना भिखारी।

कान्तिमती थी मानो शशि-किरणों पर तू सोती थी,
राजमहल की सरस सीप में तू जीवित मोती थी।

वह मोती का प्यार—चुप रहो ऐ सलीम, मत बोलो!
इस सौंदर्य-सुधा में मत विभ्रमयी वासना घोलो!

वह मोती का प्यार—सजा है,
जिसमें छवि का पानी!
कैसे रक्षित होगा? यह—
दुनिया तो है दीवानी।

कोमल छवि का मोल। वासना ही के उपहारों में—
और प्रेम का मोल रत्न के—हीरों के—हारों में—
करता है संसार, यही है उसकी रीति निराली,
अन्धकार से तारों का विक्रय करती निशि काली।

यह न स्थान है जहाँ प्रेम का—
मूल्य लगाया जावे,
नूरजहाँ तेरे मन का सौदा—
सुलझाया जावे।

जहाँगीर क्या समझ सका था तेरे मन की बातें,
तेरे साथ उसे भाती थीं वस्त चाँदी की रातें।
सारी रात देखते थे तारे तेरे दृग-तारे,
प्रातः तेरे आँसू बनकर बिखर गये थे सारे।

इस रहस्य ही में करुणा की
थी अव्यक्त कहानी,
कितने हृदय-प्रदेशों की थी
एक साथ तू रानी।

*   *   *

(न आँखों में देखी जाती—
थी मदिरा की लाली,
स्वप्न बनी तू और साथ ही
स्वप्न देखने वाली)।

सदियों के सागर में डूबी तेरी गौरव-गाथा,
उफ़, तेरे चरणों पर था किस-किस प्रेमी का माथा।
जगत देखता रहा फूल वह तोड़ ले गया माली,
हाथ बढ़े ही रहे गिर पड़ी यौवन की वह प्याली।

नूर-रहित हो गया जहाँ,
तेरे जग से जाने से,
नूरजहाँ, तू जाग—जाग फिर
मेरे इस गाने से।

[शाहजहाँ बीमार है। उसके चार पुत्र हैं—दारा, शुजा, मुराद और औरंगज़ेब। राज-सिंहासन के लिए उसके चारों पुत्रों में लड़ाई हो रही है। औरंगज़ेब ने दारा और मुराद को पराजित कर दिया है। वह शुजा का पीछा बंगाल में कर रहा है। शुजा बनारस, मुंगेर, मुर्शिदाबाद, ढाका से होता हुआ अराकान के राजा की शरण लेता है। वहाँ भी राजा से मनोमालिन्य होने के कारण शुजा अराकान के प्रशान्त वन में सदैव के लिए चला जाता है। मैं अराकान से पूछना चाहता हूँ—'शुजा कहाँ है?']

मौन-राशि ओ अराकान!
अथ-हीन और इति-हीन मौन,
यह मन है, तन भी यही मौन,
निर्जनता की बहुमुखी धार,
अविदित गति से है वही मौन।
यह मौन! विश्व का व्यथित पाप,
तुझ में क्यों करता है निवास?
क्या व्योम देख कर? अरे व्योम—
में तारों का है मुक्त हास।
ये शिला-खंड—काले, कठोर—
वर्षा के मेघों-से कुरूप!

दानव-से बैठे, खड़े या कि—
अपनी भीषणता में अनूप !
ये शिला-खंड—मानों अनेक
पापों के फैले हैं समूह !
या नीरसता ने चिर निवास—
के लिये रचा है एक व्यूह !

वह सर्प—(मृत्यु-रेखा सजीव)—
खिंचती चलती है दिशा-हीन !
विष मौन कर रहा है प्रवास,
ले एक वक्र वाहन मलीन।
दो भागों में जिह्वा-प्रवाह,
चञ्चल है सुख-दुख के समान,
तजता समीर फुफकार—आह,
यह देख मृत्यु का स-गति यान।

ओ अराकान! यह विषम भूमि,
भय ही जिसका है द्वारपाल,
शिशुपन यौवन से है अजान,
जर्जरपन ही था जन्मकाल।

सुख-सदृश न्यून हैं लघु प्रसून,
दुख के समान हैं कुश अपार,
दोनों का अनुचित विवश योग,
है जीवन का अज्ञात हार।

क्या हार ? आह, वह शुजा वीर !
संग्राम-भूमि में गया हार !
यह वही शुजा है जो सदैव—
वैभव का था जीवित विहार !
यह वही शुजा है एक बार—
जिससे सज्जित थे राज-द्वार !
अब हार—(विजय की पतित राशि)
लज्जित करता है बार-बार !

जीवन के दिन क्या हैं अनेक ?
वृद्धा के सिर के श्याम केश !
जर्जरपन ही है मुक्त-द्वार,
जिसके सम्मुख है मृत्यु देश !
यह वैभव का उज्ज्वल शरीर,
दो दिन करता है अट्टहास,
फिर देख स्वयं निज विकृत वेश,
लज्जित हो करता है प्रवास !

वह शुजा ! आह, फिर वही नाम—
मचले बालक-सा बार बार,
सोई स्मृति पर लघु हाथ मार,
क्यों जगा रहा है इस प्रकार ?
वह शाहजहाँ का राज्यकाल !
मानों हिमकर का रजत हास !

लक्ष्मी का था इस्लाम-रूप !
स्वर्गों का था भू पर निवास !
वे दिन क्या थे ! यौवन-विलास—
सन्ध्या-बादल-सा था नवीन !
यह रास-रङ्ग—वह रास-रङ्ग—
यौवन था यौवन में विलीन !
घन भूल गया था व्यक्ति-भेद,
उसकी गति का था हुआ नाश,
था स्वर्ण-रजत का एक मूल्य,
रत्नों में पीड़ित था प्रकाश ।

रमणी के कण्ठों पर स-रत्न,
सोया करता था बाहु-पाश,
उच्छृङ्खलता भी थी प्रमत्त,
चिन्ता जीवन से थी हताश ।
'शासित के जी हलके सदैव—
थे, शासक पर था राज्य-भार !
उसकी जाग्रति से सभी काल,
निद्रित रहता था दुराचार ।

उस दिन वह केवल था विनोद,
जब नीली यमुना के समीप,
सञ्चित था उत्सुक जन-समूह,
(बुझते जाते थे नभ-प्रदीप) ।

काले बादल-से दो प्रमत्त,
हाथी लड़ते थे बार-बार,
विद्युत-सा उद्धत चपल शब्द,
सूचित कर देता था प्रहार।

अपनी आँखों में भरे हर्ष—
उत्सुकता की चञ्चल हिलोर,
नृप शाहजहाँ रवि-रश्मि-युक्त—
हो, देख रहा था उसी ओर।

सम्मुख थे उसके राजपुत्र,
चञ्चल घोड़ों पर थे सवार,
आश्चर्य उमङ्गों का सदैव—
दृग में बढ़ता था तीव्र ज्वार।

औरंगज़ेब की ओर एक—
गज दौड़ा बन साकार क्रोध,
पर थी उसकी तलवार तीव्र,
करने वाली चञ्चल विरोध।

जीवन का अब अस्थिर प्रवाह,
दो क्षण तक ही था रहा शेष,
पर वाह, शुजा रे शुजा वीर!
तेरी चञ्चलता थी विशेष!

तूने विद्युत बन कर सवेग,
विद्युत-तर कर भाला विशाल,

उस मृत्यु-रूप गज के स-रौद्र,
मस्तक पर छोड़ा था कराल।
गज घूमा, तू औरंगज़ेब—
को बचा, हो गया अमर वीर।
मैं तुझे खोजता हूँ अलक्ष्य,
अब अराकान में हो अधीर।

था शाहजहाँ बीमार, और—
दारा बैठा था नमित माथ,
जिन पर आश्रित था राज्य-भार,
वे काँप रहे थे आज हाथ।
दरबार हो गया नियम-हीन,
प्रातः-दर्शन भी था न आह,
रवि-शाहजहाँ से हुआ शून्य,
प्रति दिन प्राची-सा ख्वाबगाह।
गत तीस वर्ष का राज्यकाल,
विस्तृत था स्वप्नों के समान,
जिनमें निद्रित था बन प्रशान्त,
इस जीवन का अस्तित्व ज्ञान।
'शाही-बुलन्द-इक़बाल' युक्त,
दारा का शासन था स-हास,
पर शाहजहाँ का मृत्यु-कष्ट,
करता मुख से मुख पर प्रवास।

चिन्ता-निर्मित नत व्यथित शीश,
झुकते थे दिन में अयुत बार,
मृदु वायु सह रही थी अनन्त,
आशीषों का अविराम भार।
जिस तन पर मणियों का प्रकाश,
अपना जीवन करता व्यतीत,
अब वह तन है कितना मलीन!
कितना निष्ठुर है यह अतीत!

जब शाहजहाँ ने एक बार,
सोचा जीवन का निकट अन्त;
दृग से दो आँसू गिरे, और—
उनमें आकांक्षा थी अनन्त।
ये जीवन के दो दिवस शेष,
जिनमें होंगी स्मृतियाँ अतीत,
प्रिय ताजमहल के पास क्यों न,
हों प्रेयसि-चिन्तन में व्यतीत?

कुछ दूर—आगरे में अनूप,
सञ्चित है स्मृति का अश्रु-विंदु,
वह ताज—(वेदना की विभूति),
अङ्कित है भू पर पूर्ण इन्दु।
यह शाहजहाँ है एक व्यक्ति,
जिसने इतना तो किया काम,

दे दिया विरह को एक रूप,
है 'ताज' उसी का व्यथित नाम।
पर—है प्रेयसि की स्मृति पवित्र,
कितनी कोमल ! कितनी अनूप !
फिर शाहजहाँ ने बन कठोर,
क्यों दिया उसे पाषाण-रूप ?

यदि फूलों से निर्मित अग्लान,
यह ताजमहल होता सहास,
तब होता स्मृति का उचित चिन्ह,
मैं क्यों रहता इतना उदास ?

तारों की चितवन के समान,
था शाहजहाँ अपलक अधीर,
यमुना की लहरों से स-मोद,
क्रीड़ा करता था मृदु समीर।
कितने भावों को कर विलीन,
छोटे-से दृग के बीच आज,
दिल्ली का स्वामी बन मलीन,
था देख रहा निस्तब्ध ताज।

वह ताज ! देखकर उसे हाय,
उठता था दृग में विकल नीर,
मुमताज ! कहाँ पाषाण-भार,
है कहाँ तुम्हारा मृदु शरीर !

है कहाँ तुम्हारी मदिर-दृष्टि,
जिसमें निमग्न था अधर-पान ?
अधरों में संचित था अनूप,
इक्षुज-सा कोमल मधुर गान !

था मधुर गान ! . . अः, वह मुराद,
औरंगज़ेब के सहित आज,
है शुजा—शुजा भी है स-ओज,
सजने को भीषण युद्ध-साज।

दिल्ली का सिंहासन विशाल,
है आज युद्ध का पुरस्कार,
जीवन होगा जय का स्वरूप,
क्या मृत्यु-रूप होगी न हार ?

नृप शाहजहाँ की हीन शक्ति,
बन गई सुतों का बल अपार,
दारा, मुराद, औरंगज़ेब,
थे मानो जीवित अहङ्कार।

सतलज की लहरें हुईं क्षुब्ध,
जब उठा भयङ्कर युद्ध-नाद,
प्रतिबिम्बित था जल में अनन्त—
सेना-समूह—भीषण विषाद।

दारा का वैभव-पूर्ण युद्ध,
वृद्धा-जीवन-सा था अशक्त,

(धन का सेवक था युद्ध-वाद्य,
बह गया स्वर्ण के साथ रक्त!)
वह दिल्ली से लाहौर, और—
मुलतान सिन्ध से गया कच्छ,
कलुषित-सा होने लगा नित्य,
उसकी जय का आकार स्वच्छ!

दादर में दारा की विभूति—
का द्रुत आँसू में था प्रवाह,
नादिरा-हृदयसङ्गिनी आज,
थी मृत्युसङ्गिनी आह! आह!
दारा के उर पर अश्रु और
मोती बिखरे थे बन अधीर,
सिसकियों-भरे चुम्बन-समेत,
था मृतक नादिरा का शरीर!!

बन्दी था अब वह राजपुत्र,
भिक्षुक-स्वरूप हो गया ईश!
क्षण-एक हुआ चीत्कार रुद्ध,
फिर गिरा रक्त से सना शीश!
वह शीश देख औरंगज़ेब—
हँसकर रोया था बहुत देर,
मानो निर्दयता ने ;स-भूल,
थोड़ी-सी करुणा दी बिखेर।

भोला मुराद-(मदिरा-प्रवीण)—
सोया था होकर शस्त्र-हीन,
चरणों को अलसाई अनूप,
थी दबा रही बाँदी नवीन,
उस समय दुष्ट औरंगज़ेब—
ने भेजा था क्यों शेख़ मीर ?
जिससे सहायता हीन सुत—
भाई का बन्दी हो शरीर।

अः शुजा ! और तुम ! कहो वीर !
बंगाल तुम्हारा था प्रवास,
सुख का दिन—सुख की रात शान्त,
यह सत्रह वर्षों का निवास !
उस राजमहल की शान्त वायु—
पा शाहजहाँ का समाचार,
निर्बल रोगी-सी हुई क्षुब्ध,
आकांक्षा का हिल उठा तार।

तू बढ़ा हाथ में ले सगर्व,
शासन का गौरव-पूर्ण भार,
तेरा गौरव था एक चित्र—
तेरा साहस था चित्रकार !
थी शत्रु-वाहिनी अति प्रमत्त,
तू विमुख हुआ था बार-बार,

मानो दृढ़ तट पर शक्ति-हीन
लहरों का था असफल प्रहार।

औरंगज़ेब से हुआ युद्ध,
जिसमें थी गज-सेना अपार,
विजयी बनकर भी कई बार,
तुझको क्यों स्वीकृत हुई हार?
ढाका से भागा अराकान,
खोकर अपना विजयी स्वभाव,
कितनी नदियाँ कीं शीघ्र पार,
आशाओं ही की बना नाव।

गौरव-रक्षण के हेतु वीर!
तूने अपनाया वन-प्रदेश!
रक्षित है क्या अब भी महान्!
तेरा वह विक्रम वीर वेश?
तेरे वैभव का मृदु विलास,
इस अराकान से था अपार,
इसके पर्वत से भी महान्,
तेरे सुख का था मधुर भार।

इसमें विभीषिका भी सदैव,
रहती है हो-होकर सभीत,
तेरे समीप मुस्कान मञ्जु,
अधरों में होती थी व्यतीत।

तरु तोड़-तोड़कर यहाँ नित्य,
झंझा करता है अट्टहास !
तेरे शरीर में नव सुगन्धि,
लिपटी-सी करती थी निवास।

ले अपने वैभव का शरीर,
आया है तू इस भाँति श्रान्त,
एकान्त भूमि में इस प्रकार,
तू ही है उजड़ा एक प्रान्त !
ओ अराकान के शून्य प्रान्त !
तेरे विशाल तन में प्रशान्त,
वह शुजा हृदय की भाँति आज,
क्या धड़क रहा है वन अशान्त !

अभिशाप

१९३०

१

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ,
आज अनश्वर गीत ?
जीवन की इस प्रथम हार में,
कैसे देखूँ जीत ?
उषा अभी सुकुमार; क्षणों में—
होगी वही सतेज,
लता बनेगी ओस-बिन्दु को
सरल मृत्यु की सेज,

कह सकता है कौन, देखता हूँ मैं भी चुपचाप ?
किसका गायन बने न जाने मेरे प्रति अभिशाप !

क्या है अन्तिम लक्ष्य—
निराशा के पथ का ?—अज्ञात !
दिन को क्यों लपेट देती है
श्याम वस्त्र में रात ?
और, काँच के टुकड़े बिखरा—
कर क्यों पथ के बीच,
भूले हुए पथिक-शशि को दुख—
देता है नभ नीच ?

यही निराशामय उलझन है क्या माया का जाल ?
यहाँ लता में लिपटा रहता छिपकर भीषण व्याल।

देख रहा हूँ बहुत दूर पर,
शान्ति-रश्मि की रेख,
उस प्रकाश से मैं अशान्ति-तम—
ही सकता हूँ देख,
काँप रही स्वर-अनिल-लहर
रह-रहकर अधिक सरोष,
डरकर निरपराध मन अपने—
ही को देता दोष !

कैसा है अन्याय ? न्याय का स्वप्न देखना पाप !
मेरा ही आनन्द बन रहा, मेरा ही सन्ताप !

हास्य कहाँ है ? उसमें भी है,
रोदन का परिणाम,
प्रेम कहाँ है ? घृणा उसी में
करती है विश्राम,
दया कहाँ है ? दूषित उसको—
करता रहता रोष,
पुण्य कहाँ है ? उसमें भी तो—
छिपा हुआ है दोष,

धूल हाय ! बनने ही को, खिलता है फूल अनूप।
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप।

मेरे दुख में प्रकृति न देती
क्षण भर मेरा साथ,
उठा शून्य में रह जाता है
मेरा भिक्षुक-हाथ,
मेरे निकट शिलाएँ, पाकर
मेरे श्वास-प्रवाह,
बड़ी देर तक गुञ्जित करती—
रहतीं मेरी आह,

'मर-मर' शब्दों में हँसकर, पत्ते हो जाते मौन।
भूल रहा हूँ स्वयं, इस समय मैं हूँ जग में कौन?

वह सरिता है—चली जा रही—
है चंचल अविराम,
थकी हुई लहरों को देते
दोनों तट विश्राम,
मैं भी तो चलता रहता हूँ
निशिदिन आठों याम,
नहीं सुना मेरे भावों ने
'शान्ति-शान्ति' का नाम,

लहरों को अपने अङ्कों में तट कर लेता लीन।
लीन करेगा कौन? अरे, यह मेरा हृदय मलीन!

२

क्या शरीर है ? शुष्क धूल का—
थोड़ा-सा छवि जाल,
उस छवि में ही छिपा हुआ है
वह भीषण कङ्काल,
उस पर इतना गर्व ? अरे,
इतने गौरव का गान,
थोड़ी-सी मदिरा है उस पर,
सीखा है बलिदान ?

मदमाती आँखोंवाले, ओ ? ठहर, अरे नादान !
एक-फूल की माला है उस पर इतना अभिमान ?

इस यौवन के इन्द्र-धनुष में
भरा वासना-रङ्ग,
काले बादल की छाया में,
सजता है यह ढंग,
और उमंगों में भूला है
बनकर एक उमंग;
एक टूटता-स्वप्न आँख में
कहता उसे 'अनंग'—

वह 'अनङ्ग' जो धूल-कणों में भरता है उन्माद।
जर्जरपन में भी ले आता नवयौवन की याद।

और (याद आया अब)—
मृगनयनी का नयन-विलास,
हँसती और लजाती थी—
चितवन कानों के पास,
गोल गुलाबी गालों में—
भरकर ऊषा का रङ्ग,
पैना तीर चला चितवन का,
करती थी भ्रू-भङ्ग,
मैंने देखा था उसमें, गिरते फूलों का ह्रास।
सन्ध्या के काले अम्बर में मिटता अरुण-विकास।

दूर! दूर!!—मत भरो कान में,
वह मतवाला राग;
यही चाहते हो मैं कर लूँ
इस जग से अनुराग?
गिरते हुए फूल से कर लूँ
क्या अपना शृंगार?
करने को कहते हो मुझसे,
निश्चल शव से प्यार!
गिन डालूँ कितनी आहों में अपने मन के भाव?
पथराई आँखों से कैसे देखूँ विष का स्राव।

अरे, पुण्य की भाषा ही में
क्यों कहते हो पाप ?
क्षणिक सुखों की नीवों पर
क्यों उठा रहे सन्ताप ?
सुमन-रङ्ग से किस आशा पर
करते अमर विहार ?
ओस-कणों में देख रहे—
सारे नभ का शृंगार ?

प्यार-प्यार क्यों प्यार कर रहे नश्वरता से प्यार ?
यहाँ जीत में छिपी हुई है इस जीवन की हार !

मृत्यु वही है, जिसमें होती,
जीवित क्षण की हार,
वे ही क्षण क्यों भाग रहे हैं
वर्तमान के पार ?
मेरे आगे ही, मेरे
जीवन का नाश-विलास,
झाँक शुष्कता रही चोर-सी,
हृदय-सुमन के पास,

जीवन-आभा बनती जाती दिन-दिन अधिक मलीन ।
अंधकार में भी बनता हूँ मैं लोचन से हीन ।

भूल रहा हूँ पाकर स्मृति की,
चञ्चल एक हिलोर,

देख रहा हूँ मैं जीवन के
किसी दूसरी ओर,
हाँ, वह यौवन-लाली करती
जीवन-सुमन विहार,
मादकता में धूल-कणों से—
भी करती थी प्यार,

शुष्क पत्तियों से भी करती आलिङ्गन का हाव।
मतवाले बन-बनकर आते, मन के नीरस भाव।

काले भावों की रजनी में
आशा का अभिसार,
मैंने छिपकर देखा था,
देखा था कितनी बार,
उनका आना और समुत्सुक—
मेरे मन का प्यार,
दोनों भाव बना देते थे
लज्जित लोचन चार,

किन्तु, मुझे क्या मिलता था ? क्या बतला दूँ उपहार ?
शीतल ओठों का मुरझाया-सा चुम्बन उस बार।

उत्सुकता के बदले में यह
भीषण अत्याचार !
घृणा, घृणा शत-जिह्वा से
डसती थी बारम्बार,

आँखों की मदिरा का बन जाना
आँसू की धार,
बाहु-पाश का शक्ति-हीन हो
गिरना धनुषाकार,

यह था क्या उपहार, अरे इस जीवन का उपहार !
फूल-रूप क्यों रखता है यह धूल-रूप संसार ?

छविमय कहते हो जिसको
जिसमें है रूप अपार,
हाय ! भरा है उसमें कितने,
पापों का संसार !
पहन रहे हो हार,
उसी में भूल रही है हार,
पुण्य मानकर क्यों करते हो,
इन पापों से प्यार ?

मुझे न छूना, जतलाओ मत अपना झूठा प्यार ।
धूल समझकर छोड़ चुका हूँ यह कलुषित संसार ।

अञ्जलि

१६२६

१

फूलों की अधखुली आँख !
मार्ग देख मेरे प्रियतम का,
देख देख नीला आकाश।
जब तक वे न यहाँ आवें,
खुलने का मत कर व्यर्थ प्रयास ॥

सागर की गतिवती तरङ्ग !
ले उसाँस मत, तट पर जाकर,
चुप हो जा ओ चञ्चल बाल !
मेरे प्रियतम के आने की,
ध्वनि से देना अपनी ताल ॥

ओसों के बिखरे वैभव !
फैले हो अवनी पर, शासन—
करने का यह अनुपम ढङ्ग।
तुम से भी तो कोमल है,
मेरे प्रियतम का उज्ज्वल अङ्ग ॥

मत उड़ना ए, अश्रु-बिन्दु बन
करना उन फूलों में वास।

मेरा अनुपम धन आवे,
जब तक इस निर्धन मन के पास ॥

तरुवर के ओ पीले पात !
मत गिरना, मेरे प्रियतम को,
तो आ जाने दो इस बार ।
आने पर उनके चरणों पर,
गिरकर हो जाना बलिहार ॥

ओ समीर के मन्दोच्छ्वास !
फूलों की प्याली में तब तक,
मत भरना छवि-सुधा अपार ।
जब तक प्रियतम की पद-ध्वनियाँ,
पहुँच न जावें मेरे द्वार ॥

जल-कुबेर ए काले मेघ !
प्रिय की विरह-ज्वाल दिखलाकर,
क्यों बरसाते हो जल-धार ?
वसुधा के वैभव ही में तो,
करते हो अपना विस्तार ॥
तब तक मौन रहो जब तक,
मेरे आँसू का पारावार ।
मिल जावे तुम से करने को,
प्रियतम के पद का शृङ्गार ॥

ओ मेरी तन्त्री के नाद !

मत गूँजो, मेरी उँगली से
मत बोलो ओ प्राणाधार।
मेरे मन में बस जाने दो,
पहले मेरा प्रिय स्वरकार॥

२

इस सोते संसार बीच,
जगकर सजकर रजनी वाले!
कहाँ बेचने ले जाती हो,
ये गजरे तारों वाले?
मोल करेगा कौन,
सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी।
मत कुम्हलाने दो,
सूनेपन में अपनी निधियाँ न्यारी॥
निर्झर के निर्मल जल में,
ये गजरे हिला-हिला धोना।
लहर हहरकर यदि चूमे तो,
किञ्चित विचलित मत होना॥
होने दो प्रतिविम्ब विचुम्बित,
लहरों ही में लहराना।
लो मेरे तारों के गजरे,
निर्झर-स्वर में यह गाना॥
यदि प्रभात तक कोई आकर,
तुम से हाय, न मोल करे।
तो फूलों पर ओस-रूप में,
बिखरा देना सब गजरे॥

३

अरे निर्जन वन के निर्मल निर्झर !
इस एकान्त प्रान्त-प्राङ्गण में
किसे सुनाते सुमधुर स्वर ?
अरे निर्जन वन के निर्मल निर्झर !
अपना ऊँचा स्थान त्यागकर,
क्यों करते हो अधःपतन ?
कौन तुम्हारा वह प्रेमी है,
जिसे खोजते हो वन-वन ?
विरह-व्यथा में अश्रु बहाकर,
जल मय कर डाला सब तन !
क्या धोने को चले स्वयं,
अविदित प्रेमी के पद-रज-कन ?
लघु पाषाणों के टुकड़े भी,
तुमको देते हैं ठोकर !
क्षण भर ही विचलित होकर,
कम्पित होते हो गति खोकर।
लघु लहरों के कम्पित कर से,
करते उत्सुक आलिंगन।

कौन तुम्हें पथ बतलाता है,

मौन खड़े हैं सब तरुगन ?

अविचल चल, जल का छल-छल,

गिरि पर गिर-गिरकर कल-कल स्वर।

पल-पल में प्रेमी के मन में,

गूँजे ए कातर निर्झर !

४

ओ समीर, प्रातः समीर !

मेरे पल्लव सोते हैं,

टूटे न शान्त स्वप्नों का तार।

या तो धीरे-से आओ,

या रहो दूर, देखो उस पार॥

सरल सुमन-शिशुओं ने तेरी,

आहट से दीं आँखें खोल।

यह सौन्दर्य-सुधा छलकाकार,

घटा दिया क्यों उसका मोल ?

ओ समीर, निष्ठुर समीर !

कलियों को मत छुओ,

बालिकाएँ हैं, सरला हैं, अनजान।

गाना मत उनके समीप,

उन्मत्त अरे, यौवन के गान॥

असम तुम्हारा है प्रवाह,

ध्वनि-पद से करते व्योम-विहार।

या तो धीरे से आओ,

या रहो दूर देखो उस पार॥

ओ समीर, मादक समीर !

किसका शिशुपन चुरा-चुराकर,

भरते हो ओठों में आज ?

किसकी लाली छीन कर रहे,

उषा-प्रेयसी का यह साज ?

अरे, एक झोंके में ही क्यों,

उड़ा दिए सब तारक-फूल !

मेरे स्वप्नों में क्यों भर दी,

मेरे जाग्रतपन की धूल ?

ओ समीर, पागल समीर !

५

तरुवर के ओ पीले पात!
किस आशा से तन्तु सम्हाले रहते हैं दिन रात?
रात हो या कि प्रभात।
पतले एक हाथ से पकड़े हो तरुवर का गात।
अन्य तुम्हारे स्वजन,
हरे रङ्गों का ले परिधान।
हँसते हैं पीलेपन पर क्या,
मर मर मर कर गान?
सुनते हो चुपचाप,
अन्य पत्तों का यह अभिशाप।
उनका है आनन्द तुम्हारा
यह विषमय संताप॥
गिर जाना भू पर,
समीर में हिल-डुल कर इस बार।
दिखला देना पत्तों को,
उनका अन्तिम संसार॥

६

समय की शीतल साँस !

शिशिर ! तुम्हारे जीवन का
पहिला दिन, पहिली रात ।
उसी समय तुमने छीने
जीवन-तरुवर के पात,
हँसते हो, छूते हो जग के
सब सूखे कंकाल;
शिशुपन की क्रीड़ा में
जीवन का यह रूप कराल !
वृद्ध सो रहा है,
तेरा ही स्वप्न रहा है देख,
तीन पंक्तियों में मस्तक पर
है जीवन का लेख,
वह आशा जो जर्जरपन में
ले माया का रूप,
कङ्कालों से हँसती रहती
तेरे ही अनुरूप,
तेरा जीवन है जग के
फूलों का जीवन-नाश,

तेरी क्रीड़ा के कारण ही

शून्य हुआ आकाश,

मेरा जीवन तो तुझ से भी

शीतल है ओ क्रूर !

क्यों रहता है फिर उससे तू

डर कर इतनी दूर ?

जीवन-सुख है, वर्षा की

सरिता का वारि-विलास,

उठ कर पत्थर से ठोकर

खाकर करता उपहास,

उस सुख से तेरे दुख में

मिलती है अधिक मिठास,

तुझ में ही मेरा वसन्त है

तुझ में अमर विलास,

समय की शीतल साँस।

७

मेरी गति है वहाँ जहाँ पर करुणा का है नाम नहीं।
मैं रहता हूँ वहाँ जहाँ रहने का कोई धाम नहीं।
मेरे कार्यों का होता है कोई भी परिणाम नहीं।
मेरे ब्रज में गोप नहीं, गोपियाँ नहीं, घनश्याम नहीं।

मैं जाता हूँ कहाँ, इसी का मुझको बिलकुल ज्ञान नहीं।
मुझे छोड़ कर अन्य किसी से मेरी है पहिचान नहीं॥

सूक्ष्म और अन्तर्यामिन् का मुझ में होता है अवतार।
मूर्ति कहाँ है, विभव व्यूह का सजा रहा हूँ मैं संसार।
जाग रहा है चित्, सोता है अचित् प्रकृति बन बारम्बार।
आता कौन, कौन जाता है सृष्टि-महासागर के पार।

बद्ध मुक्त से सजा रहा हूँ चित् का मैं अस्तित्व अनन्द।
सत रज तमकी वृत्ति चली जाती है महा-प्रलय पर्यन्त॥

परिवर्तन की चाल ! एक कण घूम घूम कर सौ सौ बार।
बना रहा है प्रलय, विश्व के बना रहा अगणित संसार।
रात्रि और दिन के परदों पर खेल रहा जीवन बन व्यस्त।
अन्धकार के काल-सर्प जब ढक लेते हैं विश्व समस्त—

और सर्प-दंशित सम जग जब हो जाता है तमसाकार।
मैं जाता हूँ पुरुष-रूप से करने महा प्रकृति से प्यार॥

× × ×

कैसा है वह प्यार! वासना का उसमें विस्तार नहीं।
क्रीड़ास्थल है महा विश्व, यह छोटा-सा संसार नहीं॥

८

मेरी जीवन-तन्त्री में कितनी आहों के तार लगे !
मेरे रोम रोम में कितने ही दुख के संसार लगे !
मेरी अन्तर् बहिर् प्रकृति में प्रबल हार के हार लगे !
मेरे जीवन-नभ को दुख-दामिनि के चपल प्रहार लगे !

ज्ञान-कोष में आँसू के कितने ही हैं भांडार लगे !
मेरे मानस में छल करनेवाले कितने प्यार लगे !

मेरे हँसने से ही शशि-किरणों का उज्ज्वल हास हुआ।
मेरे आँसू की संख्या से तारों का उपहास हुआ।
मेरे दुख के अन्धकार से रजनी का शृङ्गार हुआ।
मेरे बिखरे भावों से बिखरा-सा यह संसार हुआ।

मेरे सुख से ही जग में सुख का है कुछ आभास हुआ।
मेरे जीवन से ही मानव-जीवन का इतिहास हुआ॥

६

लिए कितनी स्मृतियों का कोष
भिखारी-सा जर्जर तन भार,
खड़े हो ओ मेरे गृह आज !
किसे करने को भूला प्यार ?
सुलाए कितने वर्ष अतीत
गोद में खड़े हुए दिन रात,
बुलाए वातायन से नित्य
झाँकने वाले बाल-प्रभात।
रात की काली चादर ओढ़
निकलते थे तारे चुपचाप,
देखते थे वे चारों ओर
भयानक अन्धकार का पाप।
देखते थे तुम भी उस काल
हृदय में कर सुस्नेह प्रकाश,
दीप्तिमय छिद्र-नेत्र से अचल
उन्हीं नक्षत्रों का आकाश।
तुम्हारे लघु छिद्रों के नैन
जानता था कब मैं उस काल,

प्रकाशित होंगे कभी न हाय !

उठेंगे जब ये तारे-बाल

एक छाया ही का आतङ्क

बढ़ेगा तुम पर ऐसा आह !

निकल जावेगा तुम पर मूक

रात्रि दिन का अविराम प्रवाह।

आह, वे स्मृतियाँ कितना उग्र,

कहाँ हैं, कहाँ,कहाँ, किस ओर !

यहाँ कैसा था रजनी काल

और कैसा तम था, उफ़, घोर !

और मेरी माँ का संसार

हिल रहा था जब पल प्रति पल,

नेत्र की उज्ज्वलता में सिमिट—

गया था अन्धकार अविचल।

आँख की पुतली पल में कभी

भूल जाती थी अपनी चाल,

देखते थे उसको चुपचाप

प्यार के पाले भोले बाल।

शुष्क ओठों का अविदित बोल

चुरा ले गईं पापिनी वायु,

ओस की बूँदों-सी उड़ चली

फूल से तन में बैठी आयु।

आँख धीरे धीरे थी खुली
दृष्टि निर्बल पहुँची सब ओर,
और पुतली ने धीरे छुआ
बुझी आँखों का सूखा छोर।

उसी क्षण उज्ज्वल दीप-प्रकाश
हो गया पल पल अधिक मलीन,
अन्त में सन्ध्या-सा बन कहीं
हो गया अन्धकार में लीन।

आज भी वह स्मृति ले चुपचाप
रखे हो अपना अवनत भार,
यही तो है जीवन की हार
यही तो दो दिन का संसार।

यही तो दो दिन का संसार
खिलाता है कितने ही फूल,
और दो दिन के भूखे भ्रमर
झूलते हैं अपनापन भूल।

तुम्हारा सुन्दर उपवन और
तुम्हारा सुन्दर रूप विशाल,
आज है देख रहा संसार
तुम्हें रोगी का नत कङ्काल।

वायु आकर छू जाता शीघ्र
देखते हो तुम उसका व्यङ्ग,

कभी सौरभ भारों से थका
सदा लिपटा रहता था अङ्ग;
बने हो अब अतीत के विन्दु
बने हो अवनी पर निरुपाय,
बने स्थिर, सकरुण स्वप्नाकार
लिए अपना अविदित अभिप्राय।
न गिरना, मत गिरना ए सुनो!
सुरक्षित रखना अपना द्वार,
कभी आऊँगा फिर इस ओर
आँख में भर आँसू दो चार।

१०

कवि, मेरा सूखा-सा जीवन,
रहने दो तुम सूना।
रहो दूर, मेरे सुख-दुख की,
स्मृतियाँ तुम मत छूना।
रङ्गों से मत भरो चित्र,
धुँधली रहने दो रेखा।
मेरे सूखे-से थल में,
किसने गङ्गा-जल देखा ?

गीत-विहँग क्यों उड़े, अभी है मौन-अँधेरा मेरा।
हाय, न जाने कहाँ सो रहा स्मृति-सङ्गीत-सबेरा ! !

ओसों के अक्षर से अङ्कित
कर दूँ व्यथा-कहानी।
उसमें होगा मेरी आँखों
के मोती का पानी।
उसे न छूना रह जावेगी
मेरी कथा अधूरी।
कैसे पार करूँगी फिर मैं,
हृदय-अपरिचित दूरी ?

सुख की नहीं, किन्तु दुख ही की बनी रहूँगी रानी।
मेरे मन ही में रहने दो, मेरी करुण कहानी॥

अन्धकार का अम्बर पहने,
रात बिता दूँ सारी।
दीप नहीं, तारक-प्रकाश में,
खोजूँ स्मृति-निधि न्यारी॥
ओस सदृश अवनी पर बिखरा—
कर यह यौवन सारा।
किसी किरण के हाथ समर्पित
कर दूँ जीवन प्यारा॥

तब तक यह सूखा-सा जीवन रहने दो तुम सूना।
रहो दूर, मेरे सुख-दुख की स्मृतियाँ तुम मत छूना॥